7

गांव की वंचना

भारतीय अर्थशास्त्र के सभी विद्यार्थियों को इन सभी वर्षों में खेती की उपेक्षा बल्कि उसके प्रति बरते गए भेदभाव के परिणाम अब सुस्पष्ट हैं। डॉ० वी० के० आर० वी० राव ने 14 वर्षों की अवधि अर्थात्, 1960 से 74 तक के दौरान कृषि सम्बन्धी एक अध्ययन[1] किया है जिसके द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि वर्ष 1960-61 की कीमतों के आधार पर कृषि से प्राप्त निवल घरेलू उत्पाद की वृद्धि 22.2 प्रतिशत रही जबकि कुल मिलाकर राष्ट्रीय उत्पाद में यह वृद्धि 52 प्रतिशत रही, और चूंकि इस अवधि में असंदिग्ध रूप से इस प्रतिशतता से अधिक वृद्धि हुई, अर्थात् वह 28.3 प्रतिशत की दर से अधिक बढ़ी, अतएव प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय निवल उत्पाद में हुई वृद्धि की तुलना में कृषि से प्राप्त प्रति व्यक्ति निवल उत्पाद में गिरावट आई है।

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण ने 1960-61 के अध्ययन के आधार पर इसी वर्ष में ऐसे ग्रामीण परिवारों की अनुमानित संख्या 52.74 प्रतिशत थी जिनका प्रति व्यक्ति उपभोक्ता व्यय प्रतिमास 18.9 रुपये या इससे भी कम था। 1960-61 में 18.9 रुपए की आधार राशि की तुलना में 1973-74 में कृषि श्रमिकों के उपभोक्ता कीमत सूचकांक को लागू करने पर उसी वर्ष के लिए समान व्यय 53.5 रुपए आता है। प्रति व्यक्ति 53.5 रुपए या इससे कम राशि प्रतिमास व्यय करने वाले ग्रामीण परिवारों की संख्या उस वर्ष राष्ट्रीय सर्वेक्षण प्रतिदर्श के अनुसार 59.3 प्रतिशत अनुमानित की गई थी। इसलिए वर्ष 1960-61 और 1973-74 की अवधि के बीच ग्रामीण निर्धनता में कमी होने के बजाय निर्धनता की रेखा से नीचे रहने वाले ग्रामीण परिवारों की संख्या में वृद्धि हुई। इस स्थिति का परिचय उस कार्यकारी अध्ययन दल ने दिया जिसके डॉ० राव स्वयं संयोजक थे। इस प्रकार कुल ग्रामीण जनसंख्या की तुलना में ग्रामीण निर्धन लोगों की संख्या में पूर्णतया और अपेक्षाकृत वृद्धि हुई। निष्कर्ष यह है

1. देखिए 'कैपीटल', 12 अप्रैल, 1979 में प्रकाशित लेख "रूरल पॉवर्टी इन्क्रीजिज डैस्पाइट इकनॉमिक ग्रोथ" (आर्थिक वृद्धि के बावजूद ग्रामीण निर्धनता में वृद्धि)

कि 1960-61 से 1973-74 तक की अवधि में भारत में ग्रामीण निर्धनता बढ़ी है और जब राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के आंकड़ों को इसी विषय के पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा किए गए निर्धनता के अन्य सूत्रों पर लागू किया जाता है, तो यही बात साबित होती है। इस प्रकार यदि हम 1960-61 के लिए दांडेकर और रथ द्वारा भारतीय निर्धनता के अग्रगामी अध्ययन को देखें और हम उस वर्ष में उनके द्वारा बताई गई निर्धनता की रेखा के रूप में 15 रुपए प्रति व्यक्ति प्रति मास के व्यय के अनुमान को स्वीकार कर लें और उसे सही कारक के रूप में कृषि श्रमिकों के उपभोक्ता कीमत सूचकांक को लागू करके बाद के वर्षों में अग्रेषित करें तो हमें 1973-74 की निर्धनता की रेखा से नीचे व्यय करने वाले ग्रामीण परिवारों की संख्या 40.56 प्रतिशत मिलेगी जबकि 1960-61 में यह संख्या 34.73 प्रतिशत थी। इससे इस अवधि के दौरान ग्रामीण निर्धनता की मात्रा में वृद्धि का संकेत मिलता है, चाहे हम निर्धनता की रेखा को निर्धारित करने के लिए ऐसा आंकड़ा ही स्वीकार कर लें जो 1961 में कार्यकारी दल द्वारा बनाए गए मापदण्ड से 20 प्रतिशत कम ही क्यों न हो और जिसे आज ग्रामीण क्षेत्रों में न्यूनतम रहन-सहन के स्तर के रूप में सरकारी तौर पर अधिक अथवा कम मानकर स्वीकार कर लिया गया है।

इस विषय के पूर्ववर्ती लेखकों ने निर्धनता के मापदण्ड के बारे में अलग-अलग सूत्रीकरण किए हैं उनकी पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के आंकड़ों को लागू करने से भारत में ग्रामीण निर्धनता के बढ़ते रहने के आंकड़ों को सारांश रूप में निम्न तालिका में देखा जा सकता है :

तालिका 75

नाम	प्रति व्यक्ति मासिक उपभोक्ता व्यय की दृष्टि से निर्धनता का मानदण्ड		निर्धनता मानदण्ड से नीचे प्रति व्यक्ति उपभोक्ता व्यय करनेवाले ग्रामीण परिवारों की प्रतिशतता		स्तंभ 5 और 4 के मध्य प्रतिशतता का अन्तर
	1960-61 रुपए	1973-74 रुपए	1960-61	1973-74	
वर्धन	14.0	39.6	29.80	34.59	+5.21
दांडेकर और रथ	15.0	42.5	34.73	40.56	+5.83
1961 का कार्यकारी दल	18.9	53.5	52.74	59.26	+6.52
अशोक रुद्र	22.7	64.2	66.17	70.74	+4.57

यह विदित होगा कि यदि हम 1960-61 की प्रतिशतता को आधार मान लें तो 1960-61 की प्रतिशतता की तुलना में प्रत्येक निर्धनता मानदंड से सम्बद्ध उपभोक्ता व्यय के साथ 1973-74 में निर्धनता मानदंड से नीचे प्रति व्यक्ति उपभोक्ता व्यय

वाले ग्रामीण परिवारों की प्रतिशतता में वृद्धि हुई है जिससे यह स्पष्ट होता है कि निर्धनता निर्धारण के लिए प्रति व्यक्ति मासिक व्यय की जितनी वृद्धि होती जाती है उतनी ही निर्धनता की तुलनात्मक रूप से वृद्धि उत्तरोत्तर कम होती जाती है। इसके विपरीत यदि हम निर्धनता निर्धारण के आधार वर्ष में अपेक्षाकृत कम व्यय वाले वर्ग को लें तो हमें 1960-61 की तुलना में 1973-74 में अधिक वृद्धि मिलेगी। इससे यह विदित होता है कि इन तमाम वर्षों की अवधि में ग्रामीण निर्धनता की मात्रा की वृद्धि के अलावा तीव्रता में भी वृद्धि हुई है।

इस अवधि में ग्रामीण निर्धनता बढ़ी है, और इस निष्कर्ष की पुष्टि रिजर्व बैंक के उस अध्ययन से भी होती है जो उन्होंने 1961-62 और 1971-72 के वर्षों के लिए ग्रामीण ऋण और निवेश के संबंध में किया है। रिजर्व बैंक ने 1961-62 में अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण और निवेश सर्वेक्षण और 1971-72 के लिए अखिल भारतीय ऋण और निवेश सर्वेक्षण किए हैं। इन दोनों सर्वेक्षणों से जो आंकड़े प्राप्त हुए हैं उनसे इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि 1961-62 से 1971-72 की दशाब्दी की अवधि में निर्धनता की मात्रा में क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं। 'रिजर्व बैंक स्टाफ अकेजनल पेपर्स' के खंड II के प्रथम संस्करण में इन आंकड़ों के आधार पर 1961-71 के लिए ग्रामीण परिसंपत्तियों के पैटर्न का तुलनात्मक अध्ययन दिया गया है।

इस अध्ययन में 'ग्रामीण' निर्धन व्यक्ति की परिभाषा ऐसे ग्रामीण परिवारों को शामिल करके दी गई है जिनमें से प्रत्येक परिवार के पास 1961 में एक हजार रुपए से कम मूल्य की परिसंपत्तियां थीं। इसकी तुलना में वर्ष 1971 में यह राशि 2,500 रुपए दिखाई गई है जिससे यह विदित होता है कि दस वर्षों की अवधि में उनकी परिसंपत्तियों का आर्थिक मूल्य बढ़ा है। जून, 1971 में ग्रामीण परिवारों की संख्या 7.70 करोड़ थी जिनमें 548 लाख खेतिहर (72.4 प्रतिशत), 111 लाख कृषि श्रमिक (14.6 प्रतिशत), 10 लाख कारीगर (2.4 प्रतिशत) और 82 लाख अन्य गैर-कृषक कामगार (10.1 प्रतिशत) शामिल है।

इन आंकड़ों से यह विदित होता है कि इस अवधि में जबकि खेतिहर परिवारों की संख्या में 10.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई है, तो ऐसे परिवारों की संख्या 1961 की अपेक्षा 27 प्रतिशत अधिक थी, जिन्हें 1971 में निर्धन वर्ग के अंतर्गत माना जा सकता था (अर्थात् 1961 में 1,000 रुपए की तुलना में उनकी परिसंपत्तियों का कुल मूल्य 2,500 रुपए से कम था)। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि खेतिहर परिवारों में निर्धनों की संख्या कुल खेतिहर परिवारों की वृद्धि की दर से लगभग 3 गुनी बढ़ गई है। यह कुल संख्या 1961 में 31 लाख थी जबकि इसकी तुलना में 1971 में 103 लाख हो गई है। इसी अवधि में खेतिहर परिवारों की संख्या, जिनके पास कोई भी घरेलू वस्तुएं नहीं थीं, 1960 में न्यूनतम 5 रुपए और 1971 में 15 रुपए के मूल्य की वस्तुओं के हिसाब से 7.5 लाख से बढ़कर 21 लाख हो गई है।

जहां तक कृषि श्रमिक परिवारों का संबंध है, उनकी संख्या इसी अवधि में 14.1 प्रतिशत बढ़ी है जबकि खेतिहर परिवारों की संख्या में 10.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। लेकिन उन कृषि श्रमिक परिवारों का अनुपात जिनके पास भूमि थी, 1961 12.6 प्रतिशत से घटकर 1971 में केवल 5-5 प्रतिशत रह गया है; और सभी कृषि श्रमिक परिवारों की कुल संपत्तियों में भूमि का भाग 29.2 प्रतिशत से कम होकर 17.1 प्रतिशत रह गया है।

सभी राज्यों में एक वर्ग के रूप में कारीगरों की स्थिति कृषि-मजदूरों की अपेक्षा अधिक अच्छी रही। अखिल भारतीय स्तर पर औसत कारीगर परिवार के पास कृषि श्रमिक परिवार की अपेक्षा इनसे अधिक परिसंपत्तियां थीं।

वृद्धि की दर

यदि सभी ग्रामीण परिवारों को मिलाकर वस्तुस्थिति देखी जाए तो ऐसे 'निर्धन' परिवारों की संख्या (जिनकी परिसंपत्तियों का कुल मूल्य 1971 में 2,500 रुपए और 1961 में 1,000 रुपए था), 64 लाख की वृद्धि के साथ 1971 में 271 लाख हो गई जिसमें ग्रामीण परिवार के एक-तिहाई से अधिक (35.2 प्रतिशत) परिवार थे। इस प्रकार सभी निर्धन ग्रामीण परिवारों की संख्या में 30.9 प्रतिशत वृद्धि हुई जबकि समस्त ग्रामीण परिवारों की कुल संख्या में केवल 12.2 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इसलिए यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक के आंकड़े इस निष्कर्ष का समर्थन करते हैं कि 1961-71 की अवधि में ग्रामीण निर्धनता बढ़ी है।

किसानों की वास्तविक आर्थिक दशाओं का ही एक उदाहरण प्रस्तुत है: पूर्वी उत्तर प्रदेश के प्रतिनिधि जिला बलिया में डॉ० बी० डी० सिंह के नेतृत्व में पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय के दल ने कृषि-आर्थिक अध्ययन किया जो जून, 1971 में प्रकाशित हुआ है। इस अध्ययन में कहा गया है कि :

> "पूर्वी उत्तर प्रदेश में अधिकांश छोटे सीमांत खेत आर्थिक रूप से 'जीवन-क्षम नहीं है"...
>
> "किसान घोर निर्धनता में रहते हैं। कृषीतर संसाधनों से अपनी आय को बढ़ाने के बावजूद, वे मुश्किल से अपनी गुजर-बसर भर कर पाते हैं"...
>
> "बलिया जिले में 50 प्रतिशत के अखिल भारतीय औसत की तुलना में सभी किसानों में से 85 प्रतिशत किसान निर्धनता-रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे हैं...
>
> "वास्तव में 240 रुपए प्रतिवर्ष की आय मात्र जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक होती है। इस अध्ययन से यह पता लगा है कि सीमांत खेत (जिनका क्षेत्रफल 2.5 एकड़ से कम है) का केवल 6 प्रतिशत और छोटे खेत (जिनका क्षेत्रफल 2.5 से 8.5 एकड़ तक है) का 33 प्रतिशत भाग जीवनक्षम है।
>
> "निर्धनता-रेखा से नीचे रहने वाले लगभग 10 प्रतिशत सीमांत किसानों

की दशा बिल्कुल ही दयनीय है। वे प्रतिवर्ष 500 रुपए से कम राशि पैदा कर पाते हैं। उनके परिवारों में औसतन 8 व्यक्ति होते हैं।"

डॉ० वी० के० आर० वी० राव ने 'कैपीटल' दिनांक 12 अप्रैल, 1981 में ऊपर उल्लिखित एक लेख प्रकाशित कराया था जिसमें उन्होंने केवल दो वर्षों अर्थात् 1960-61 और 1973-74 का तुलनात्मक अध्ययन किया है। फिर भी 1957-58 और 1973-74 के बीच के अधिकांश वर्षों के अनुमान उपलब्ध हैं। मौनटेक आहलूवालिया के लेख— 'रूरल पावर्टी एंड एग्रीकलचरल परफौरमैन्स इन इंडिया' (भारत ग्रामीण निर्धनता और कृषि-कार्य) में इन अनुमानों की व्यापक रूप से जांच की गई है।

इस लेख में गत दो दशाब्दियों की अवधि में ग्रामीण निर्धनता की समय-समय पर साक्ष्य की जांच से यह पता लगता है कि प्रति व्यक्ति वास्तविक कृषि-उत्पादन की न्यूनाधिकताओं के अनुसार निर्धनता घटती-बढ़ती रहती है लेकिन इसके लिए कोई समय प्रवणता नहीं है। समग्र भारत में ग्रामीण निर्धनता और कृषि निष्पादन के आंकड़ों की तुलना करने से विशिष्ट विरोध दृष्टिगत होता है जिससे यह पता लगता है कि कृषि-संवृद्धि स्वयं ही निर्धनता के प्रभाव को कम कर देती है।

आहलूवालिया के लेख में तालिका 76 से यह विदित होता है कि ग्रामीण

तालिका 76

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के आधार पर भारत में
ग्रामीण निर्धनता के अनुमान

वर्ष	निर्धन ग्रामीण जनसंख्या की प्रतिशतता	सेन का निर्धनता सूचकांक*	निर्धन जनसंख्या का आकार (दस लाख में)
1956-57	अनुपलब्ध	0.23	अनुपलब्ध
1957-58	53.4	0.22	182.0
1958-59	अनुपलब्ध	0.19	अनुपलब्ध
1959-60	48.7	0.17	173.0
1960-61	42.0	0.14	152.0
1961-62	42.3	0.14	157.0
1963-64	49.1	0.16	189.0
1964-65	50.4	0.17	198.0
1965-66	51.1	0.21	205.0
1966-67	57.4	0.24	235.4
1967-68	57.9	0.24	241.0
1968-69	53.5	0.20	227.0
1970-71	49.1	0.18	217.0
1973-74	47.6	0.17	221.0

*इस सूचकांक का परिसर 0 से 1 तक है।

निर्धनता 1957-58 और 1960-61 के बीच के वर्षों में कम हुई और यह फिर 1967-68 में बढ़ गई और उसके बाद कम हुई। इस तालिका में जो आंकड़े दिए गए हैं वे अलग-अलग राज्यों में निर्धनता की अनुमानित प्रतिशतता की भारित कुल राशि के रूप में प्राप्त किए गए हैं और जिन्हें राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण द्वारा अलग-अलग राज्यों और राज्यों की विशिष्ट निर्धनता-रेखा के अलग-अलग वितरण से प्राप्त किया गया है। यहां निर्धनता रेखा से अभिप्राय 1960-61 की ग्रामीण कीमतों के आधार पर 30 दिनों के लिए प्रति व्यक्ति 15 रुपए उपभोक्ता व्यय स्तर से है।

ऊपर दी गई तालिका में जो परिणाम दिए गए हैं उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उनमें ग्रामीण निर्धनता का विस्तार अथवा प्रभावक्षेत्र समय-समय पर घटता-बढ़ता रहा है। निर्धनता की प्रतिशतता प्रारंभ में छठी दशाब्दी की मध्यावधि में 50 प्रतिशत से घटकर 1960-61 में लगभग 40 प्रतिशत रह गई है और यह प्रतिशतता छठे दशक की मध्यावधि में तीव्र गति से बढ़ी है, यहां तक कि 1967-68 में यह बढ़कर चोटी तक पहुंच गई है और फिर इसके बाद घट जाती है।

इन दोनों क्षेत्रकों में ग्रामीण और शहरी आय तथा असमानताओं के विषय में अध्ययन किया गया, जो केवल एक कृषि वर्ष 1975-76 से संबंधित है। यह अध्ययन प्रायोजित आर्थिक शोध राष्ट्रीय परिषद् ने किया है। (यह अध्ययन उनकी रिपोर्ट— 'हाउसहोल्ड इनकम एंड इट्स डिसपोजीशन' (घरेलू आय और उसका प्रबंध) में शामिल किया गया है। परिषद् ने यह अध्ययन भारत सरकार के वित्त मंत्रालय के कहने पर किया है। इस अध्ययन में देश की दोनों ही—ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के परिवार-क्षेत्र के लिए आय, संपत्ति और बचत के पैटर्न तथा वितरण का व्यापक विश्लेषण किया गया है। आय वर्ग के अनुसार परिवार की आय के संबंध में इन तथ्यों को तालिका 77 में दिखाया गया है।

तालिका 77

आय-वर्ग का घरेलू आय में हिस्सा

आय वर्ग	परिवारों की प्रतिशतता		आय में भाग की प्रतिशतता	
रुपए	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी
1	2	3	4	5
1200 और नीचे	8.31	1.33	2.00	0.2
1201-2400	29.81	11.55	13.8	3.0
2401-3600	24.24	18.08	18.3	7.6
3601-4800	14.60	16.28	15.4	9.5
4801-6000	9.19	13.78	12.6	10.4

(क्रमशः)

1	2		3		4		5	
6001- 7500	5.00		10.13		8.6		9.7	
7501-10000	3.90		11.23		8.7		13.5	
10001-15000	2.97	4.95	8.62	17.61	9.2	20.7	14.6	46.1
15001-20000	1.04		4.20		4.5		10.2	
20001-25000	0.49		2.07		2.8		6.6	
25001-30000	0.25		1.22		1.8		4.7	
30001-40000								
40001-60000	0.20		1.50		2.4		10.0	
60000 से अधिक								
सभी आय	100.00		100.00		100.00		100.00	

ऊपर दी गई तालिका के आंकड़ों से यह विदित हो सकता है कि ग्रामीण परिवारों के केवल 4.95 प्रतिशत परिवारों की वार्षिक आय 10,000 रुपए या इससे अधिक थी और कुल आय में उनका भाग 20.7 प्रतिशत रहा जबकि शहरी परिवारों के 17.61 प्रतिशत परिवारों की वार्षिक आय 10,000 रुपए या इससे अधिक थी और उनकी कुल शहरी आय का भाग 46.1 प्रतिशत था। इस समय 12,000 रुपए से कम सभी आय आयकर से मुक्त कर दी गई हैं। इसलिए इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में कर योग्य आय शहरी क्षेत्रों की तुलना में बहुत ही कम है फिर भी यदि हम ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों की आय-सीमा की दृष्टि से आय को देखें तो यह विदित होगा कि ऊंची आय-वर्ग की सीमाओं में ग्रामीण क्षेत्रों की अधिकांश आय कृषीतर प्रयासों से प्राप्त हुई है। प्रायोजित आर्थिक शोध राष्ट्रीय परिषद् की इस संबंध में खोज निम्नांकित तालिका में दी गई है :

तालिका 78

आय-वर्गवार ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में आय का संयोजन

आय-वर्ग	कृषि		व्यवसाय		वेतन		मजदूरी		अन्य	
	शहरी	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी	ग्रामांण	शहरी	ग्रामीण
3606 से कम	4.7	40.1	17.3	6.0	16.4	2.3	54.6	45.0	7.0	6.3
3601-7500	5.0	58.5	21.1	7.0	50.5	11.7	15.6	16.2	7.8	6.6
7501-15000	4.7	64.5	26.9	8.4	56.5	18.8	2.1	2.1	9.8	6.2
15001-30000	3.8	74.5	29.4	9.8	57.7	10.0	0.1	0.2	9.0	5.5
30000 से अधिक	6.4	40.5	44.1	38.8	41.0	7.5	—	—	8.5	13.2

ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतिवर्ष 30,000 रुपए से अधिक आय सीमा में केवल 40.5 प्रतिशत आय कृषि से होती है और शेष आय व्यापार और वेतन आदि से होती है। इससे यह पता लगता है कि गांवों में जो थोड़े से लोग धनी दिखाई देते हैं उनकी आय भूमि से उतनी अधिक नहीं होती जितनी कि वे व्यापार, वेतन, पेंशन अथवा अन्य साधनों से प्राप्त करते हैं।

इस रिपोर्ट में एक और तालिका दी गई है जिसे आगे दिया गया है। इस तालिका में यह ध्यान देना अधिक रुचिकर है कि 39,160 करोड़ रुपए की कुल ग्रामीण आय में से आधे से कम अर्थात् 14,444 करोड़ रुपए कृषि से ही प्राप्त हुए थे। जून 1976 के अंत तक कृषि वर्ष के दौरान परिवार क्षेत्रक को 45,158 करोड़ रुपए की कुल आय मिली। इस आय का दो-तिहाई भाग ग्रामीण भारत ने प्रदान किया लेकिन इसमें कृषि का योगदान एक-तिहाई भाग से भी कम था।

तालिका 79

घरेलू आय का संयोजन

स्रोत	ग्रामीण		शहरी		अखिल भारत	
	करोड़ रुपए	%	करोड़ रुपए	%	करोड़ रुपए	%
कृषि	14444	47.88	541	3.61	14986	33.19
पशुधन	1974	6.56	169	1.13	2147	4.76
व्यवसाय	2394	7.94	3965	26.44	6358	14.08
वेतन	2870	9.51	7360	49.10	10239	22.65
कृषि मजदूरी	4003	13.27	77	0.51	4080	9.03
कृषीतर मजदूरी	2522	8.36	1586	10.58	4108	9.10
गृह-सम्पत्ति	1089	3.61	765	5.17	1864	4.13
लाभांश और ब्याज	91	0.30	65	0.44	157	0.35
स्थानान्तरित आय	775	2.57	452	3.02	1228	2.72
सभी स्रोत	30167	100.00	14991	100.00	45158	100.00

इस अध्ययन के कतिपय अन्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं :

(1) एक शहरी परिवार की औसत आय 7,074 रुपए थी जबकि एक औसत ग्रामीण परिवार की आय केवल 3,920 रुपए थी।

(2) शहरी क्षेत्रक में 30,000 रुपए या इससे अधिक राशि की आय वाले परिवारों की संख्या 3,18,000 थी। यह संख्या शहरी परिवारों की कुल संख्या का 1.5 प्रतिशत थी और शहरी आय में उनका भाग 10 प्रतिशत था। ग्रामीण

क्षेत्रक में 30,000 रुपए से अधिक आय वाले परिवारों की संख्या 1,59,000 थी, जो ग्रामीण परिवारों की कुल संख्या का 0.2 प्रतिशत ही थी और इन परिवारों की आय कुल ग्रामीण परिवार की आय का केवल 2.4 प्रतिशत ही थी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शहरी समाज में धनी व्यक्तियों की संख्या ग्रामीण समाज की अपेक्षा $7\frac{1}{2}$ गुनी अधिक है और शहरी धनी व्यक्ति ग्रामीण धनी व्यक्तियों की आय के अनुपात से 4 गुनी अधिक आय प्राप्त कर लेते हैं।

(3) ग्रामीण परिवारों में से 77 प्रतिशत परिवारों की वार्षिक आय 4,800 रुपए या इससे कम रही जबकि इस स्तर से कम आय वाले शहरी परिवारों का अनुपात केवल 47 प्रतिशत ही था।

(4) 1,200 रुपए या इससे कम रुपए प्रतिवर्ष की न्यूनतम आय वर्ग के 95.8 प्रतिशत परिवार ग्रामीण क्षेत्रक में थे।

(5) ग्रामीण क्षेत्रों के उच्चतम धनी परिवारों के 1% लोगों की औसत आय 28,200 रुपए थी जबकि शहरी क्षेत्र में सबसे अधिक धनी 1% लोगों की औसत आय 55,163 रुपए थी जो ग्रामीण क्षेत्रों के 1% उच्चतम धनी परिवारों की औसत आय की लगभग दुगुनी राशि है।

सम्पत्ति

इस अध्ययन से ग्रामीण परिवारों की अपेक्षा शहरी परिवारों के मध्य संपत्ति के वितरण की अपेक्षाकृत अधिक असमानता दिखाई है। शहरों में 1% सबसे अधिक धनी व्यक्ति कुल शहरी संपत्ति के 20.7 प्रतिशत भाग पर नियंत्रण करते हैं जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में 1% सबसे धनी परिवार ग्रामीण संपत्ति का केवल 13.12% भाग पर ही नियंत्रण करते हैं। 1970-71 की कृषि जनगणना ने प्रायः भू-स्वामित्व पैटर्न को बताया है और इससे ग्रामीण समाज की असमानता प्रकट होती है। इस रिपोर्ट के अनुसार इस देश में 10 हेक्टेयर या इससे अधिक क्षेत्रफल की बड़ी-बड़ी जोतें कुल जोतों का 4% हैं और प्रचालित जोतों में 30% भूमि काम में आती है। लेकिन शहरी समाज में यह असमानता और भी अधिक खराब है। शहरों में सबसे अधिक धनी व्यक्तियों के 4% व्यक्ति शहरी संपत्ति के 41.89% भाग पर नियंत्रण करते हैं, जैसा कि राष्ट्रीय अनुप्रयुक्त आर्थिक अनुसंधान परिषद् की रिपोर्ट में बताया गया है यह स्थिति तालिका 86 (पृ० 262) से स्पष्ट हो जाती है।

तालिका 86

शतमक वर्गों के अनुसार घरेलू सम्पत्ति

	ग्रामीण			शहरी		
सम्पत्ति का शतमक	सम्पत्ति में % भाग		घरेलू औसत सम्पत्ति (रुपए) %	सम्पत्ति में भाग		घरेलू औसत सम्पत्ति (रुपए)
5	0.03		125	—		—
5-10	0.13		468	0.01		23
10-20	0.61		1091	0.24		300
20-30	1.34		2411	0.52		652
30-40	2.38		4280	0.83		1038
40-50	3.75		6742	1.65		2052
50-60	5.66		10162	3.13		3894
60-70	8.02		14419	5.29		6591
70-80	11.60		20846	9.37		11664
80-90	18.25		32786	16.59		20658
90-95	14.98		54408	16.08		40278
96	4.13		74159	4.40		54778
97	4.52	29.12	81127	5.44	41.89	67717
98	5.15		92564	6.88		85661
99	6.33		113783	9.50		118320
100	13.12		235661	20.70		249918

वर्ष 1975-76 में देश में कुल ग्रामीण परिवारों की संख्या 774 लाख थी। इनमें से 5 और 10 प्रतिशत क्रमशः 38.7 और 77.4 लाख लोग हैं। किसी भी शतमक वाले ग्रुप में परिवारों की संख्या को उसी शतमक के प्रति परिवार की औसत संपत्ति से गुणा किया जाए तो हम शतमक ग्रुप की कुल संपत्ति का हिसाब लगा सकते हैं और इसी प्रकार ग्रामीण परिवारों के सबसे निम्न वर्ग के 20% परिवारों का हिसाब लगा सकते हैं, जैसा कि निम्न तालिका में दिखाया गया है :

तालिका 81

सम्पत्ति शतमक	परिवारों की संख्या (दस लाख में)	औसत प्रति परिवार सम्पत्ति (रुपए)	कुल सम्पत्ति (करोड़ों रुपयों में)
न्यूनतम 5	3.87	125	48.38
5-10	3.87	468	181.12
10-20	7.74	1091	844.93
नीचे 20	15.48		1073.93

इस गणना से इस तथ्य का पता चलता है कि ग्रामीण परिवारों के सबसे निम्न 20% परिवारों की कुल संपत्ति—ऐसे परिवार राष्ट्र के $\frac{1}{6}$ भाग के बराबर हैं; भारत के नौ उच्च औद्योगिक परिवारों, यथा : बिरला और टाटा आदि—के प्रत्येक परिवार की कुल निवेश परिसंपत्तियों से कम है ।

संपत्ति के स्वामित्व की असमानता ग्रामीण और शहरी क्षेत्रकों में व्याप्त है। इस तथ्य की पुष्टि भारत सरकार ने ठीक, 1979 को राज्य के सदन में एक प्रश्न के उत्तर में की थी। इस उत्तर में यह बताया गया था कि समग्र ग्रामीण भारत में 16,664 व्यक्तियों पर संपत्ति कर लगाया गया है (जिसमें उनमें उनकी कृषीतर संपत्ति भी शामिल कर ली गयी है) और उन पर कुल कर 1,85,66,000 रुपए का लगाया गया था जबकि केवल दिल्ली में ही कर देने वाले व्यक्तियों (केवल कृषीतर संपत्ति दर) की संख्या 19,149 थी और उन पर 3,48,25,000 रुपए का कुल कर लगाया गया था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल दिल्ली शहर ही में धनी व्यक्तियों की संख्या देश भर के ग्रामीण क्षेत्रक में धनी व्यक्तियों की संख्या से अधिक है और राजधानी में कर देने योग्य सपत्ति भारत के कुल ग्रामीण क्षेत्रों में कर देने योग्य संपत्ति से लगभग दुगुनी है ।

इन दोनों क्षेत्रकों के मध्य आय के वितरण का अन्य चिंताजनक पक्ष भी है । इन क्षेत्रकों में यथार्थ रूप से संपत्ति पैदा की जाती है । इस संपत्ति का रूप कृषि और उद्योग अथवा प्राथमिक और द्वितीयक होता है। इस तथ्य की पुष्टि भारत सरकार के केंद्रीय सांख्यिकीय संगठन ने की है। उन्होंने 1970-71 की कीमतों के आधार पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय और इसके क्षेत्रकवार वितरण का हिसाब लगाया है जबकि कृषि से ली गई प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के आंकड़े उतने ही रह गए हैं जितने कि 1950-51 में थे। इसकी तुलना में उद्योग में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय दुगनी से अधिक है। केंद्रीय सांख्यिकीय संगठन द्वारा तैयार की गई तालिका नीचे दी गई है :

तालिका 82

प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय और क्षेत्रकवार घरेलू उत्पादक

वर्ष	रुपयों में राशि (1970-71 की कीमतों के आधार पर)			सूचकांक : 1950-51 = 100		
	राष्ट्रीय आय	निवल घरेलू उत्पाद		राष्ट्रीय आय	निवल घरेलू उत्पाद	
		कृषि	उद्योग		कृषि	उद्योग
1	2	3	4	5	6	7
1950-51	466.0	283.2	68.0	100.00	100.00	100.00
1951-52	468.1	282.9	66.3	100.45	99.89	97.50
1952-53	475.8	291.8	64.9	102.10	103.4	95.44
1953-54	497.5	308.9	67.7	106.76	109.07	99.56

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7
1954-55	500.7	303.9	72.3	107.45	107.31	106.32
1955-56	507.7	298.5	78.7	108.95	105.40	115.74
1956-57	524.8	307.2	83.8	112.62	108.47	123.24
1957-58	503.3	286.1	81.4	108.00	101.02	119.71
1958-59	534.2	310.9	84.3	114.64	109.78	123.97
1959-60	532.3	300.0	88.4	114.23	105.93	130.00
1960-61	558.9	312.8	95.3	119.94	110.45	140.15
1961-62	564.8	308.2	100.1	121.05	108.83	147.21
1962-63	559.6	293.3	104.3	120.01	103.64	153.38
1963-64	576.3	295.1	112.2	123.67	104.20	165.00
1964-65	607.7	315.0	118.1	130.41	111.23	173.68
1965-66	561.9	264.8	118.3	120.58	93.50	173.97
1966-67	552.1	255.1	117.2	118.48	90.43	172.35
1967-68	588.2	289.2	118.3	126.22	102.12	173.97
1968-69	590.3	284.0	120.8	126.67	100.28	177.65
1969-70	614.4	295.6	127.5	131.85	104.38	187.50
1970-71	636.1	312.7	127.1	136.50	110.42	186.93
1971-72	629.4	303.0	127.3	135.06	106.99	187.29
1972-73	606.4	276.1	128.7	130.13	97.49	189.26
1973-74	626.0	291.2	128.4	134.7	102.12	188.12
1974-75	617.9	278.3	130.0	132.7	98.27	191.18
1975-76	659.3	303.6	135.0	141.48	107.20	198.53
1976-77	655.2	282.0	146.1	140.60	99.58	214.85
1977-78	689.9	306.5	149.8	148.5	108.33	220.29
1978-79						

टिप्पणी : कृषि में पशुधन, वनरोपण और मत्स्य-पालन सम्मिलित हैं जबकि उद्योग में पंजीकृत और अपंजीकृत विनिर्माण, निर्माण और बिजली, गैस तथा जल-आपूर्ति सम्मिलित हैं।

चूंकि एक ही परिवार के अलग-अलग सदस्यों को अगल-अलग व्यवसायों, यथा—कृषि, लघु उद्योगों और परिवहन में लगाया जा सकता है, अतः कृषि और कृषीतर आय के अनुपात की दृष्टि से यह संभव नहीं है कि किसी भी परिवार के सभी सदस्यों को कृषि अथवा कृषीतर वर्ग में अनन्य रूप से अलग-अलग कर दिया जाए। इन्हीं कठिनाइयों के कारण जनसंख्या-गणना में प्रति व्यक्ति कृषि अथवा प्रति व्यक्ति कृषीतर आय के संबंध में तथ्य एकत्र करने का प्रयत्न नहीं किया गया है और

आर्थिक कार्यकलाप का वर्गीकरण केवल कामगारों के लिए ही उपलब्ध है। वर्ष 1950-51 और 1960-61 से 1977-78 तक के कृषि और कृषीतर कामगारों के लिए अलग-अलग प्रति कामगार आय के अनुमान निम्नांकित तालिका में दिखाए गए हैं :

तालिका 83

कृषि और कृषीतर कामगारों की आय
(1970-71) की कीमतों के आधार पर

		प्रति कामगार आय (रुपए)		
	सभी कामगार	कृषि कामगार	कृषीतर कामगार	स्तंभ 3 से 4 का अनुपात
1	2	3	4	5
1950-51	1172.9=100	955.9=100	1712.9=100	1.78
1960-61	1471.6	1111.1=115.75	2373.9=138.58	2.13
1961-62	1508.5	1109.0	2509.1	2.26
1962-63	1519.1	1069.5	2646.4	2.47
1963-64	1584.6	1087.2	2832.5	2.60
1964-65	1694.3	1177.7	2991.1	2.53
1665-66	1581.9	993.4	3060.5	3.08
1966-67	1579.2	968.8	3114.1	3.21
1967-68	1706.2	1116.3	3190.4	2.85
1968-69	1735.9	1112.7	3305.2	2.97
1969-70	1828.1	1174.3	3475.8	2.96
1970-71	1921.1	1266.4=131.93	3572.4=208.55	2.82
1971-72	1933.7	1244.6	3673.0	2.95
1972-73	1888.1	1149.2	3754.8	3.26
1973-74	1965.2	1229.8	3824.4	3.10
1974-75	1962.2	1185.9	3926.4	3.31
1975-76	2121.5	1308.7	4179.7	3.19
1976-77	2131.8	1215.8	4453.3	3.66
1977-78	2270.6=198.59	1340.63=139.66	4629.7=270.28	3.45

टिप्पणियां :

1. 'कृषि' में कृषि, पशुपालन और संबंधित कार्यकलाप सम्मिलित हैं।
2. 1961 और 1971 के लिए कामगारों के आंकड़े संकल्पनात्मक अन्तर के लिए 1961 के आकड़ों का समायोजन करने के बाद जनगणना से लिए गए हैं। यह आंकड़े 'राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी', जनवरी 1978 में प्रकाशित किए गये हैं (परिशिष्ट क—I, पृष्ठ 126)।

1950-51 के आंकड़े राष्ट्रीय आय समिति की अन्तिम रिपोर्ट, 1954 से किए गए हैं (तालिका 5, पृष्ठ 23)।

3. अन्य वर्षों के लिए कामगारों और कृषि कामगारों की कुल संख्या के वार्षिक अनुमानों का हिसाब क्रमश: 1961 और 1971 के मध्य संयुक्त वार्षिक वृद्धि दर और सानुपातिक वार्षिक परिवर्तन द्वारा लगाया गया है।
4. 1970-71 की कीमतों के आधार पर आय के आंकड़े राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी (जनवरी 1979) और राष्ट्रीय आय के तात्कालिक अनुमान (जनवरी, 1979 पर प्रेस नोट से लिए गए हैं।

27 वर्षों की अवधि में सभी प्रकार के कामगारों से प्रति कामगार आय के प्रतिशत में वृद्धि हुई है अर्थात् 1950-51 से लेकर 1977-78 तक 98.59 प्रतिशत की वृद्धि हुई है और कृषि कामगारों में 39.63 प्रतिशत तथा कृषीतर कामगारों में 170.28 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। कृषि कामगारों और कृषीतर कामगारों में से प्रति व्यक्ति आय का अनुपात जो 1950-51 में 1:1.78 था वह बढ़कर 1977-78 में 1:3.45 हो गया है।

तालिका 84 एक गैर-सरकारी अध्ययन को दिखाती है और इस तालिका में स्वातंत्र्योत्तर अवधि 1950-75 के 25 वर्षों का विवरण है। इससे यह विदित होता है कि कृषि क्षेत्रक में प्रति व्यक्ति उत्पादकता, देश में कुल मिलाकर उत्पादकता से कहीं कम ही नहीं है अपितु जैसे-जैसे समय बीतता गया है इसमें कमी आती गई है। इसके विपरीत, उद्योग में लगे प्रति कामगार का तुलनात्मक उत्पाद धीरे-धीरे बढ़ता गया है। इसके अलावा कृषि में प्रति कामगार तुलनात्मक उत्पाद और अन्य दो क्षेत्रों में प्रति कामगार तुलनात्मक उत्पाद के मध्य अंतर समय बीतने

तालिका 84

क्षेत्रकवार प्रति कामगार तुलनात्मक उत्पाद

(देश-भर में प्रति कामगार उत्पाद — 100)

क्षेत्रक	1951	1961	1971	1975 (अनुमानित)
1. कृषि	0.71	0.69	0.64	0.58
2. उद्योग	1.66	1.83	1.96	2.11
3. सेवाएं	1.81	1.73	1.97	2.11
4. उद्योग/कृषि	2.34	2.65	3.06	3.64
5. सेवाएं/कृषि	2.55	2.51	3.06	3.64
6. सेवाएं/उद्योग	1.09	0.95	1.00	1.00
7. क्षेत्रकवार असमानता (कुल)	41.6	44.0	52.7	60.3

स्रोत : बिरला इंस्टीट्यूट ऑफ साइंटिफिक रिसर्च, नई दिल्ली, स्ट्रक्चरल ट्रान्सफॉर्मेशन एण्ड इकनॉमिक डवलपमेंट (संरचनात्मक परिवर्तन एवं आर्थिक विकास), आर्नोल्ड हीनेमैन, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित (पृष्ठ 80-81)

तालिका 85

1960-61 की स्थिर कीमतों के अनुसार प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष परिलब्धियाँ

वर्ष	अखिल भारत		केन्द्रीय सरकार प्रशासन		बैंक और बीमा		कृषि मजदूर	
	परिलब्धियां रुपए	सूचकांक	परिलब्धियां रुपए	सूचकांक	परिलब्धियां रुपए	सूचकांक	परिलब्धियां रुपए	सूचकांक
1960-61	703	100.00	4152	100.00	4038	100.00	552	100.00
1961-62	708	100.71	4878	117.5	4835	119.74	443	80.25
1962-63	702	99.86	5740	138.3	5352	132.54	459	83.15
1963-64	718	102.13	5247	126.4	5198	128.73	416	75.36
1964-65	761	108.25	5160	124.3	5184	128.38	402	72.83
1965-66	708	100.71	4405	130.2	5389	133.68	424	76.81
1966-67	690	98.15	5668	136.5	5555	137.57	377	68.30
1967-68	744	105.83	5762	138.8	5618	139.13	437	73.55
1968-69	747	106.26	6507	156.7	5840	144.63	437	79.17
1969-70	773	109.96	5972	167.9	5744	142.25	441	79.89
1970-71	790	112.38	6935	167.0	6075	150.45	442	80.07
1971-72	793	112.80	7019	169.0	6329	156.74	420	76.09
1972-73	778	110.67	6643	160.0	6312	156.32	378	68.48
1973-74	803	114.22	6385	153.8	6426	159.14	290	52.54
1974-75	773	109.96	7593	182.9	6037	149.50	227	41.12
1975-76	847	120.48	7804	188.0	6089	150.79	285	51.63

के साथ-साथ बढ़ते गए हैं जबकि यही उत्पाद उद्योग और सेवाओं के क्षेत्रकों में हाल ही की अवधियों में लगभग बराबर हो गए हैं। कृषि में किसी भी उत्पाद की वृद्धि के बिना कृषि पर निर्भर होने वाली जनसंख्या की वृद्धि हो रही है और यह उत्पाद उतना नहीं हो पाता कि कुल उत्पाद में अपना तुलनात्मक भाग बराबर बनाए रखे। इससे प्रति कामगार तुलनात्मक उत्पाद कम हो गया है। इसके फलस्वरूप प्रति कामगार उत्पादकता में अंतर्क्षेत्रक असमानता, इस क्षेत्रक के विरुद्ध प्रबल हो गई है।

कामगारों के तीनों वर्गों की, अर्थात् —वे कामगार जो केंद्रीय सरकार के प्रशासन में नौकरी पर लगे हैं, वे कामगार जो सार्वजनिक क्षेत्रक में बैंक और बीमा के व्यापार में लगे हैं और वे कामगार जो कृषि में मजदूरों के रूप में काम कर रहे हैं, वार्षिक परिलब्धियों से संबंधित एक गैर-सरकारी अध्ययन के परिणाम 1960-76 के 16 वर्षों की अवधि का हिसाब लगाकर तालिका 85 (पृ० 267) में दिखाए गए हैं। इससे यह विदित होता है कि 1960-61 की तुलना में 1975-76 में क्रमशः केंद्रीय सरकार के कर्मचारियों की परिलब्धियों और बैंक तथा बीमा में लगे कर्मचारियों की परिलब्धियों में 80.0 प्रतिशत और 50.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई है जबकि इसी अवधि में कृषि मजदूरों की परिलब्धियों में 48.37 प्रतिशत की कमी हुई है।

बचत

यदि हम ग्रामीण और शहरी, दोनों क्षेत्रकों में ही प्रति परिवार बचतों को देखें जैसा कि प्रायोजित आर्थिक शोध की राष्ट्रीय परिषद् के अध्ययन से प्रकट हुआ है, तो शहरी और ग्रामीण क्षेत्रकों के बीच असमानता और अधिक स्पष्ट लगेगी। 1975-76 में ग्रामीण बचत प्रति व्यक्ति 106 रुपए थी और शहरी बचत प्रति व्यक्ति 272 रुपए थी। यह शहरी बचत, औसत ग्रामीण बचत से $2\frac{1}{2}$ गुने से अधिक है।

अब कुछ विद्वान व्यक्ति कृषि और कृषीतर कामगारों में बढ़ती हुई असमानता को विकास का स्वाभाविक परिणाम मानते हैं। उनका यह विश्वास बिल्कुल ही त्रुटिपूर्ण है क्योंकि विकसित देशों में जैसे-जैसे समय बीतता है, इन दोनों के मध्य आय का अंतर कम होता जाता है। इनमें से कुछ देशों में, उदाहरणार्थ न्यूजीलैंड और नीदरलैंड्स में, कृषि कामगार की औसत आय कृषीतर कामगार के बराबर है।

ग्रामीण परिवारों में बहुत कम बचतें कृषि में कुल घरेलू पूंजी संचय की ह्रासगत प्रवृत्ति से भी विदित होती हैं। ये कम बचतें सभी क्षेत्रकों में कुल घरेलू पूंजी-संचय के प्रतिशत के रूप में होती हैं और जिनके आंकड़े वर्ष 1950-51, 1960-61 तथा वर्ष 1970-71 से 1977-78 तक के लिए राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी से उद्धृत किए गए हैं (तालिका 86)।

तालिका 86

सकल घरेलू पूंजी निर्माण

(करोड़ों रुपयों में)

	सभी क्षेत्रकों से	कृषि से	स्तंभ 1 की तुलना में 2 की प्रतिशतता
	1	2	3
1950-51	954	208	21.8
1960-61	2544	395	15.5
1970-71	7192	1301	18.09
1971-72	7939	1268	15.97
1972-73	8032	1489	18.54
1973-74	11175	1646	14.72
1974-75	13915	1957	13.34
1975-76	15131	2029	13.40
1976-77	17381	2685	15.44
1977-78	18536	2990	16.1

श्री भानुप्रतापसिंह, भूतपूर्व राज्य ग्रामीण पुर्ननिर्माण मंत्री, भारत सरकार ने 'फार्मर्स' वाएस', नई दिल्ली के एक अंक में बताया है :

> "पूर्ववर्ती आंकड़ों से बिना किसी प्रतिवाद का डर किए हुए ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शहरी भारत की अपेक्षा ग्रामीण भारत अधिक निर्धन है; अधिकांश संपत्ति शहरों में केंद्रित है और शहरों में गांवों की अपेक्षा आय तथा संपत्ति के वितरण में अपेक्षाकृत अधिक असमानताएं हैं; गांवों से शहरों में आय के हस्तांतरण से कृषि का अधिकांश उत्पादन लगभग निष्प्रभावी हो गया है; और औसत किसान ने गत 28 वर्षों में नियोजित विकास से कोई भी विशिष्ट लाभ नहीं उठाया है।"

कृषि और कुटीर उद्योगों के लिए तुलनात्मक रूप से कम वित्तीय आवंटनों के अलावा सरकार का गांव के प्रति जो रवैया रहा है वह इस बात से परिलक्षित होता है कि शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में उपलब्ध स्वास्थ्य, आवास, परिवहन, बिजली और इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शिक्षा जैसी सामाजिक सुविधाओं की व्यवस्था में कितना अधिक भेदभाव किया गया है। इससे नगर और गांव में मानवीय कारक के लिए निवेश में भी भेदभाव प्रकट होता है। कृषि के लिए उर्वरक और सिंचाई के निवेश कम से कम उतने ही महत्त्वपूर्ण निवेश हैं जितने कि सामाजिक सुविधाओं के निवेश। यदि हल जोतने वाला किसान स्वस्थ और शिक्षित नहीं है तो वह कुशलता से इन निवेशों का उपयोग नहीं कर सकता।

कोलंबिया में बेरोजगारी की समस्या की एक रिपोर्ट तैयार की गई। यह रिपोर्ट लगभग 1971 में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन को प्रस्तुत की गई। इस रिपोर्ट में प्रोफेसर सियर्स के दल ने यह बताया है कि चूंकि जनसंख्या का अधिकांश भाग भूमि पर आश्रित रहता है, अतः भूमि-सुधार और ग्रामीण सड़कों, स्कूलों और स्वास्थ्य-केंद्रों पर भारी निवेश की आवश्यकता है ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक रोजगार के अवसर उपलब्ध कराए जाएं और वहां की जनता को वहीं रोके रखा जाए।

स्वास्थ्य मंत्रालय, भारत सरकार की 1971-72 की रिपोर्ट के अनुसार शहरी जनता का 85 प्रतिशत भाग नल द्वारा जल की आपूर्ति प्राप्त करता है, जबकि 1.63 करोड़ (कुल ग्रामीण जनसंख्या का 3 प्रतिशत) की कुल जनसंख्या वाले 22,500 गांवों में इस प्रकार की सुविधा दी जा सकी है। 90,000 गांव ऐसे भी हैं जिनकी एक मील की परिधि में जल उपलब्ध नहीं था फिर भी चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-73) में सार्वजनिक क्षेत्रक में लगाई गई गई 401 करोड़ की पूंजी में से 276 करोड़ रुपए (68.8%) की राशि शहरी जल-आपूर्ति और स्वच्छता के लिए व्यय की गई तथा ग्रामीण जल-आपूर्ति के लिए केवल 125 करोड़ रुपए (31.2%) की राशि व्यय की गई है।

1971-72 में केंद्रीय सरकार के आग्रह पर उन विभिन्न राज्य सरकारों ने इस प्रकार के वर्ग में आने वाले 1,52,475 गांव बताए हैं जिनसे यह कहा गया था कि वे इस समस्या को समझें और उन दुर्भाग्यपूर्ण गांवों को पहचानें जहां स्वच्छ पीने के जल की आपूर्ति उपलब्ध नहीं है। मार्च, 1978 के अंत तक ऐसे गांवों की संख्या 57,818 हो गई जिनके लिए स्वच्छ पीने के जल की सुविधाओं की व्यवस्था की गई थी। शेष 94,978 गांवों में छठी पंचवर्षीय योजना की अवधि में इस प्रकार की सुविधा प्रदान की जाएगी।

फिर भी 1978 में कई राज्य सरकारों ने यह रिपोर्ट की है कि 1971-72 के सर्वेक्षण के अनुसार जिन गांवों की जानकारी हासिल की गई उनके अलावा उनके राज्यों में ऐसे भी अन्य गांव हैं जिनके पास भी स्वच्छ पीने के जल की आपूर्ति की सुविधाएं नहीं हैं। राज्य सरकारों ने यह बताया है कि इस प्रकार के गांवों की कुल संख्या 1,38,666 है। यदि देश में कुल मिलाकर इन दोनों आंकड़ों को एक साथ देखा जाए तो ऐसे गांवों की कुल संख्या 2,33,644 है जिनमें स्वच्छ पीने के जल की सुविधाएं नहीं हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली जनता के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल और आवश्यक निदान सेवाएं इन क्षेत्रों में प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों और औषधालयों द्वारा दी जाती हैं। 31 मार्च, 1978 को ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने वाले 5,400 प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र और 38,000 उपकेंद्र थे। उस समय से अब तक 126 प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों का दर्जा बढ़ा दिया गया है और अब वे 30 रोगी शैयाओं वाले ग्रामीण चिकित्सा-लय बन गए हैं ताकि वे देश में परामर्श देने वाली सेवाओं की प्रथम कड़ी के रूप में काम कर सकें। इस समय एक प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र लगभग 1 से 1.25 लाख और एक उपकेंद्र 10,000 लोगों की सेवा करता है।

यद्यपि अखिल भारतीय स्तर पर ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में औषधालय द्वारा जनता की सेवा करना अनुकूल दृष्टि से तुलनीय है और इसमें इस बात का ध्यान रखा गया है कि गांव इधर-उधर फैले हुए हैं फिर भी उनकी अधिक जनसंख्या को देखते हुए औषधालयों द्वारा ग्रामीण जनता तक चिकित्सा सुविधाओं का पहुंचाना उनकी 'पर्याप्ति' के मापदंड की दृष्टि से बहुत ही कम है। यह स्थिति और भी दयनीय है जब हम इसका आकलन ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत चिकित्सालयों में रोगी-शैयाओं की उपलब्धता और चिकित्सालयों की व्यवस्था की दृष्टि से करते हैं। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में इस स्थिति की गंभीरता का अनुमान देने वाली तालिका इस प्रकार है :

तालिका 87

	ग्रामीण	शहरी	अखिल भारतीय
चिकित्सालयों की रोगी-शैयाएं	8387 लोगों के लिए एक	350 लोगों के लिए एक	1412 लोगों के लिए एक
चिकित्सालय	300000 लोगों के लिए एक	35000 लोगों के लिए एक	120000 लोगों के लिए एक
सभी प्रकार के औषधालय	49000 लोगों के लिए एक	30000 लोगों के लिए एक	43000 लोगों के लिए एक
प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र	प्रत्येक सामुदायिक विकास के लिए एक	—	—
उपकेन्द्र (प्रसूति और बच्चों की देखभाल के लिए)	10000 लोगों के लिए एक	—	—

ग्रामीण भारत में (जनसंख्या की) प्रति हजार मृत्यु-दर शहरों की अपेक्षा दो-तिहाई भाग (15:9) से भी अधिक है और शहरों में रहने वाले लोगों की तुलना में ग्रामीण लोग अपेक्षाकृत दस वर्ष कम जीवित रहते हैं लेकिन कोई भी डॉक्टर गांव में रहना नहीं चाहता। इस दयनीय स्थिति का दोष केवल डॉक्टरों को ही नहीं दिया जा सकता बल्कि हमारी वर्तमान चिकित्सा शिक्षा को भी है; अधिकांश मैडिकल विद्यार्थी विशिष्ट शहरी वातावरण से आते हैं; कॉलेजों में उनका प्रशिक्षण समुदाय अभिमुख प्रति-रोधक दवाइयां देने की अपेक्षा पश्चिमी रोगनाशक दवाइयों में दिया जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि ग्रामीण की अपेक्षा नगर में रहने वाले आदमी पर नौ गुना चिकित्सा संबंधी ध्यान दिया जाता है।

माइकेल लिपटन ने यह बताया है कि न तो दुष्ट विदेशियों और न भ्रष्ट पूंजी-पतियों को निर्धन देशों में शहरों के लिए चिकित्सीय संसाधनों के गलत आवंटन हेतु दोषी ठहराया जा सकता है। "सरकार, यदि वह पक्षपात-रहित हो पाती, तो वह डॉक्टरों को अपने उस प्रशिक्षण के प्रयोग से रोक सकती थी जो उन्हें सरकारी व्यय से प्राप्त होता है और धनी राष्ट्रों को अपने मैडीकल स्कूलों के प्रसार करने की आव-

श्यकता से मुक्त कर सकती थी । सरकार, यदि उसे सामाजिक लाभ को अधिकाधिक बढ़ाने की चिंता होती तो वह उस राशि से ग्रामीण स्वास्थ्य केंद्रों की स्थापना कर देती जो अब मुख्य (शहरी) चिकित्सालयों में बेशकीमती सुविधाएं जुटाने में व्यय की जा रही है । सरकार ने इन कार्यों को संपन्न क्यों नहीं किया ? इसका कारण यह नहीं है कि सरकार दुष्ट है बल्कि इसका कारण है कि सरकार भी ऐसे लोगों से मिलकर बनी है जो स्वाभाविक दबावों में काम करते हैं । डॉक्टर जो न्यूयार्क में रहकर आय कमाना चाहते हैं, मंत्रियों और उच्च सेवा के अधिकारियों के पुत्र और भतीजे हैं और यही स्थिति उन धनी नगर-निवासियों की है जो ऐसा चाहते हैं तथा जो इसका व्यय-भार वहन कर सकते हैं । ग्रामीणों के संबंधी यह लाभ नहीं पहुंचा सकते ।

कम विकसित देश में "आधुनिक राज्य में कार्यपालिका आम मामलों के प्रबंधन के लिए समिति होती है," यह मध्यवर्ग की नहीं बल्कि नगर-निवासियों की होती है, मध्यवर्ग के राज्य की नहीं बल्कि नागरिकों के राज्य की होती है। परिवार, रिश्ते और व्यक्तिगत संबंध के ये बंधन जो वर्ग-एकात्मता के संबंध नहीं होते, उन्हें और अधिक मजबूत बनाते हैं ।[2]

लगभग सभी ग्रामीण क्षेत्रों में मनुष्य के मल-मूत्र के विसरण की कोई व्यवस्था नहीं है जिसके कारण पर्यावरण प्रदूषित होता है और कई रोग फैल जाते हैं । भारत के लिए इससे अधिक लज्जाजनक बात क्या होगी कि 3० वर्ष से अधिक समय हो गया है जबकि हमें राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई और इतनी अवधि बीत जाने पर भी हमारे यहां की महिलाओं को अब भी मल-मूत्र निवृत्ति के लिए खुले मैदान में बैठना पड़ता है । कम से कम अपेक्षाकृत बड़े-बड़े गांवों में स्वच्छता की सुविधाओं की व्यवस्था करके इस कार्य की शुरुआत की जा सकती है लेकिन इस समस्या के विषय में कोई भी विचार नहीं किया गया है क्योंकि अधिकांश राजनीतिक नेता शहरों के विशिष्ट परिवारों के होते हैं और उनकी मां और पुत्रियों को इस प्रकार के संकट का सामना नहीं करना पड़ता । भारत सरकार ने 'इंडिया-1974' (भारत-1974) का प्रकाशन किया है। इसके अनुसार 1971 में एक मूल्यांकन किया गया जिससे यह पता चलता है कि 1.2 करोड़ घर ऐसे हैं जो बिल्कुल बेकार हो गए हैं जिन्हें पुनः बनाने की आवश्यकता है। इस मूल्यांकन में यह भी दिखाया गया है कि उन परिवारों के लिए जिनके पास कोई भी स्वतंत्र आवास नहीं है उतने ही आवासों की व्यवस्था करने की आवश्यकता है । इस संबंध में कुल आवश्यकता 2.41 करोड़ आवासों की है, इनमें से शहरी क्षेत्रों के लिए 0.55 करोड़ और ग्रामीण क्षेत्रों के लिए 1.86 करोड़ आवासों की आवश्यकता है ।

फिर भी चौथी पंचवर्षीय योजना की अवधि में सार्वजनिक क्षेत्रक के लिए 189.48 करोड़ रुपए के कुल व्यय में से केवल 17.8 करोड़ रुपए अर्थात् 9.5 प्रतिशत से कम राशि ग्रामीण क्षेत्रों में आवास बनाने के लिए व्यय की गई है। इस लघु

2. 'व्हाई पुअर पीपुल स्टे पुअर', पृष्ठ 268-69.

राशि में से 12 करोड़ राशि कृषि-क्षेत्र के भूमिहीन श्रमिकों को आवास बनाने के स्थलों की व्यवस्था कराने की योजना में व्यय की गई है ।

अभी हाल ही में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया ने एक अध्ययन किया है और उसमें यह दिखाया गया है कि हाल ही के वर्षों में ग्रामीण गृह-निर्माण समस्या पर बहुत कम ध्यान दिया गया है । देश भर में ग्रामीण क्षेत्रों में 1978 तक लगभग 67,000 मकानों का निर्माण किया गया था जबकि उन 50 लाख ग्रामीण परिवारों के लिए मकानों की आवश्यकता थी जिनके पास 1971 में कोई भी मकान नहीं था। बड़ी-बड़ी संस्थागत उधार देने वाली एजेंसियों ने गृह-निर्माण को वित्तपोषित करने के लिए 750 करोड़ रुपए से लेकर 800 करोड़ रुपए की व्यवस्था की थी । लगभग यह सभी राशि शहरी क्षेत्रों के लाभ के लिए व्यय कर दी गई और ग्रामीश क्षेत्रों के लिए वस्तुतः इस राशि में से कुछ भी नही बचा ।

मार्च, 1979 में राष्ट्रीय भवन संगठन ने ग्रामीण क्षेत्रों में 150 लाख गृहों की व्यवस्था का अनुमान लगाया था जबकि इस आवश्यकता की तुलना में 1971-72 के अखिल भारतीय उधार और निवेश सर्वेक्षण ने यह बताया कि कम से कम 230 लाख निर्धन ग्रामीणों को उनके घर बदलने की आवश्यकता थी। निर्धन किसान परिवारों के मकानों की दशा कृषीतर क्षेत्र के परिवारों के मकानों से कहीं अधिक खराब थी ।

इन निर्धन परिवारों के मकानों का पुर्ननिर्माण और नए परिवारों को मकान की व्यवस्था कराने का काम 1981 में शुरू किया गया । इस निर्माण कार्य के अंतर्गत 13,090 करोड़ रुपए की लागत से लगभग 430 लाख मकानों का निर्माण किया जाना था ।

यह मान लिया जाय कि इस निर्माण कार्य से लाभ उठाने वालों और स्वैच्छिक मजदूरों की मजदूरी में 1,740 करोड़ का व्यय हो सकता है फिर भी यदि इस कार्यक्रम को 10 वर्षों की अवधि में पूरा करने के लिए सोचा जाय तो 11,350 करोड़ रुपए की कमी होगी ।

फिर भी यह महसूस किया जाना चाहिए कि मकानों का उस समय तक कोई मूल्य नहीं है जब तक कि सर्वप्रथम रहन-सहन के साधनों में सुधार न किया जाय। इसलिए कुल संसाधनों को और ध्यान को सर्वप्रथम देशभर के लोगों के लाभप्रद रोजगारों की व्यवस्था के लिए लगाना है। यदि एक बार लोगों को उनकी आय के साधन से आश्वस्त कर दिया जाए तो वे अपने घर बना लेंगे । इस आय के बारे में हमारे मस्तिष्कों में स्पष्टता होनी चाहिए कि इस आय से हमारे राष्ट्र की आर्थिक सम्पत्ति में वृद्धि होगी ।

कृषि के बाद भारत में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों में परिवहन की सुविधाओं की व्यवस्था की जाय । परिवहन जीवन के लिए सांस लेने के बराबर है । कोई व्यक्ति इसके महत्त्व को तभी समझ पाता है जब वह इसे खो दे। सड़कों और परिवहन के बिना कृषि सदैव जीवन-निर्वाह के स्तर तक ही रह जायेगी।

कृषि से जो कुछ भी उत्पादन होता है, वह बाजार तक नहीं पहुंच पायेगा। लेकिन अधिकांश गांव अब भी अलग-थलग हैं और वे स्वतंत्रता के 30 वर्षों के बाद भी बाहरी दुनिया से सम्पर्क नहीं कर पाते।

निम्नांकित तालिका में 31-3-78 को सड़कों द्वारा गांवों तक पहुचन की स्थिति दिखाई गई है :

तालिका 88

सड़क द्वारा गांव तक पहुंचने की स्थिति

जनसंख्या वर्ग	गांवों की कुल संख्या	परस्पर जुड़े गांवों की संख्या		ऐसे गांवों की संख्या जिन्हें परस्पर जोड़ने की आवश्यकता है	
		सभी मौसम की सड़कें	अच्छे मौसम की सड़कें	सभी मौसम की सड़कें	कोई भी सड़क
1500 और इससे अधिक	69681	37729	13949	31952	18003
1000-1500	54623	22985	9816	31638	21822
1000 से कम	451632	107925	69062	343707	274645
जोड़	575936	168639	92827	407297	314470

नाइजीरिया में यह पता लगा है कि अपेक्षाकृत अच्छा विपणन 20 से 25 प्रतिशत तक कृषि-आय में वृद्धि कर सकता है। जबकि अच्छे विपणन के लिए निश्चय ही विपणन सुविधाएं, उन्नत भण्डारन, वितरण, पैकिंग, सामान देने आदि को शामिल किया जाता है फिर भी इसके लिए सबसे बड़े घटक अपेक्षाकृत अच्छी सड़कें और तीव्र-गति के परिवहन होते हैं।

आज हमारे देश में बड़े-बड़े बाजार भी विभिन्न राज्यों में अधिनियमित कृषि-उत्पादन बाजार अधिनियम (एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्किट एक्ट्स) द्वारा अधिनियमित किए जाते हैं और इन बाजारों को भी सड़कों, किसान के ठहरने के स्थान की व्यवस्था, आदमियों और जानवरों के पीने के पानी और नीलाम करने वाले प्लेटफार्म जैसी भौतिक सुविधाओं के विकास के अभाव में क्षति उठानी पड़ती है। कुछ स्थलों में नीलामी बोलने वाले लोग अब भी मिल जाते हैं और वे किसानों को बहुत कम कीमत देना चाहते हैं। जहां तक ग्रामीण क्षेत्र में स्थित हजारों प्राथमिक कृषि बाजारों का संबंध है जिन्हें 'हाट' अथवा शैन्डी के नाम से पुकारा जाता है, उनकी दुर्दशा का वर्णन भी नहीं किया जा सकता। एक उत्पादक को अपने व्यवसायी अथवा उसके एजेण्टों को कई प्रकार की कटौतियां और बाजार के व्यय अदा करने होते हैं जिसके कारण उस कीमत में हिस्सा कम हो जाता है जो व्यापारी उपभोक्ता से वसूल किया करता है। यहां तक कि तहसील वाले नगरों या जिला मुख्यालय वाले नगरों में, जहां कानून द्वारा कृषि-बाजारों को नियमित नहीं किया जाता है, स्थानीय निकायों द्वारा चुंगी वसूल की जाती

है और किसानों के उत्पादन पर उपकर या चंदा लिया जाता है जिसे धर्मादा कहते हैं। यह उपकर या चंदा व्यापारी वसूल करते हैं और इस राशि को ग्रामीण क्षेत्रों में सुधार लाने के बजाय नगर निवासियों की शिक्षा, औषधि और सड़कों की सुविधाएं जुटाने में व्यय कर दिया जाता है।

जहां तक गांवों में टेलीफोन की व्यवस्था का प्रश्न है, यह बात एक स्वप्न ही है। लेकिन यदि ग्रामीणों को अपेक्षाकृत अधिक अच्छा जीवन देना भी हमारा उद्देश्य है तो सरकार को ग्रामीण अवस्थापना, यथा—सड़कों, बिजली, पावर-प्लान्ट्स, टेलीफोन प्रणाली और इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं पर काफी धन का निवेश करना होगा।

31 दिसम्बर, 1978 को 5,76,000 गांवों में से 2,25,000 अथवा 39.1 प्रतिशत गांवों में बिजली लगी थी। केवल 4 राज्यों में अर्थात् हरियाणा, केरल, पंजाब और तमिलनाडू के गांवों में शत-प्रतिशत अथवा लगभग शत-प्रतिशत बिजली लगी थी। आंध्र प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, कर्नाटक और महाराष्ट्र के गांवों में बिजली लगाने का प्रतिशत क्रमशः 55.4, 62.5, 57.6 और 62.9 है। अन्य राज्यों में यह अनुपात और भी कम है।

अभी हाल ही के समय तक उद्योगपतियों की तुलना में किसानों से ली गई ऊर्जा की लागत में भी भेद किया गया है। यदि उत्तर प्रदेश का ही उदाहरण लें तो कुछ वर्षों पूर्व उद्योगपतियों और किसानों से जो प्रति यूनिट ऊर्जा की वास्तविक लागत ली जाती थी उसके तुलनात्मक आंकड़े तालिका 89 में दिखाए गए हैं।

तालिका 89

उद्योग और कृषि के लिए ऊर्जा की वास्तविक लागत

	उद्योग के लिए वास्तविक लागत/यूनिट (पैसों में)	कृषि के लिए वास्तविक लागत/यूनिट (पैसों में)
1970-71	7.40	15.78
1971-72	7.48	16.68
1972-73	8.73	26.47
1973-74	9.31	29.75

चूंकि 1973-74 में कुल मिलाकर उद्योग में काम में लाई गई बिजली की प्रति यूनिट लागत 9.31 पैसे की तुलना में कृषि में काम में लाई गई बिजली की प्रति यूनिट लागत 29.75 पैसे थी, अतएव जून, 1975 में उत्तर प्रदेश सरकार और बिड़ला की हिंडालिको फर्म में एक करार किया जिसके अन्तर्गत 11.0 पैसे प्रति यूनिट की दर से ऊर्जा के 30 मेगावाट की आपूर्ति की जानी थी। पाठक को यह जानकर आश्चर्य होगा

कि अप्रैल, 1962 से बिड़ला की फर्म ने केवल 2 पैसे प्रति यूनिट कीमत चार्ज की थी जो बिजली उत्पादन की वास्तविक लागत से कम थी। बिड़ला-फर्म को दी गई ऊर्जा की रियायती दर से मार्च 1978[3] तक राज्य के राजकोष में 29 करोड़ का घाटा हुआ था।

संघीय सरकार की सिंचाई और विद्युत शक्ति टीम ने राज्य सरकार के द्वारा रिहन्द परियोजना से अल्मूनियम कम्पनी को लागत दरों से कहीं नीचे की दर पर बिजली की आपूर्ति करने के 25 वर्षीय करार की निंदा की है। इस टीम ने जो हिसाब लगाया है उसके अनुसार बिजली उत्पादन की लागत को सही तरीके से निकाला जाता तो 2.85 पैसे प्रति यूनिट बिजली की लागत आती। बिजली उत्पादन की लागत से कहीं कम 0.85 पैसे प्रति यूनिट बिजली की बिक्री की दर निर्धारित की गई। करार के अनुसार 4,304 लाख किलोवाट हॉर्स पावर की ऊर्जा की आपूर्ति पर फर्म को 'राज-सहायता' दी गई जो 36.90 लाख रुपए प्रतिवर्ष होती है। यदि 1956 के अनुमान से ऊपर परियोजना की पूंजी लागत 4 करोड़ रुपए की वृद्धि को देखा जाय तो प्रति यूनिट लागत 3.16 पैसे आएगी और इसके आधार पर 'राज-सहायता' 50.35 लाख रुपए होगी।

दूसरी ओर उत्तर प्रदेश के प्रत्येक खेतिहर को, जिसने अपना ही ट्यूबवैल लगाया, 180 रुपया प्रति हॉर्स पावर प्रतिवर्ष अदा करना पड़ा, चाहे उसको ऊर्जा मिली हो अथवा न मिली हो। इससे किसानों की आपूर्ति की गई ऊर्जा की लागत और भी अधिक हो गई।

उत्तर प्रदेश में निर्धन जनता को सताकर सरकार द्वारा पूंजीपतियों को जो पक्षपातपूर्ण व्यवहार मिला वह सामान्य रूप से अन्य राज्यों के लिए भी सही है।

1971 में योजना आयोग ने एक अध्ययन किया जिससे यह पता लगा कि एक रैफरीजरेटर के अंदर के तारों से पर्याप्त धातु, तांबा और अल्मूनियम निकल सकता है जिससे सिंचाई पंपों में विद्युतीकरण के लिए तीन मील लंबा तार बन सकता है लेकिन रैफरीजरेटरों के उत्पादन को कम करने की अपेक्षा उनके प्रसार की अनुमति दी गई। फसलें जल के बिना उग सकती थीं लेकिन नगर-निवासी रैफरीजरेटरों के बिना रह नहीं सकते थे।

शहरों के इर्द-गिर्द गांव की जमीनें शहरी और औद्योगिक प्रयोगों के बहाने ले ली गई हैं। शहरों के प्राधिकारी इन जमीनों को शहरी धनवानों के हाथ बेचते हैं और

3. जब यह निर्णय लिया गया था, उस समय राज्य सरकार के शासन की बागडोर डॉ० सम्पूर्णानन्द के हाथों में थी और लेखक विद्युत मंत्री था। लेखक ने इस प्रस्ताव का खुलकर तथा जमकर विरोध किया लेकिन लेखक को बिना बताए ही उसकी अनुपस्थिति में यह निर्णय ले लिया गया।

कभी-कभी उनकी कीमत किसानों को दी गई हानिपूर्ति से सैकड़ों गुनी अधिक हो जाती है। उनकी जमीनों को ठीक उसी प्रकार हथिया लिया जाता है जैसे कोई विजेता फौज परास्त लोगों की सम्पत्तियों को हड़प ले।

भारत सरकार की नीतियों पर शहरी हितों का कैसा आधिपत्य रहा है यह इस बात से स्पष्ट होता है कि शहरी आधार पर चलाए गए व्यापार की तुलना में गरीब किसान को कितना सताया गया है और इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए भी एक अन्य उदाहरण है अर्थात् यदि किसान अपनी भूमि के लगान का एक रुपया भी भुगतान करने में असफल रह जाए तो उसकी उस जोत को तत्काल ही नीलाम कर दिया जाता है जो उसके भरण-पोषण का एकमात्र साधन है। जबकि ऋण और अन्य अदत्त राशियों को, चाहें वे कितनी ही अधिक क्यों न हों, उद्योगपति अथवा व्यापारी को अदा करना है तो इन बकाया राशियों की वसूली के लिए (यदि उन राशियों के भुगतान के लिए सरकार ने छूट न दी हो अथवा राष्ट्रीयकृत बैंकों ने इन राशियों को बट्टे-खाते में न डाला हो तो) उद्योगपति या व्यापारी को यह छूट दे दी जाती है कि वह अपने व्यापार या कम्पनी में लगाए हुए पूंजी-भाग तक सीमित रहकर बकाया राशियों का भुगतान कर सकेगा। इन बकाया राशियों को अन्य परिसम्पत्तियों से उस समय तक वसूल नहीं किया जा सकता जब तक कि वह 'सार्वजनिक' कंपनी न हो, जैसा कि कोई विरल मामला ही होता है।

शिक्षा से व्यक्ति का मस्तिष्क खुल जाता है जबकि किसी और तरीके से इतना ज्ञान नहीं बढ़ सकता। अब सामान्यतया यह माना जाता है कि शिक्षा सामान्य रूप से आर्थिक विकास का प्रभाव होने के बजाय आर्थिक विकास के लिए एक शर्त है और यह स्थिति कृषि क्षेत्रक के लिए भी सही होगी। लेकिन जैसा कि अन्य क्षेत्रों में देखा जाता है वैसा ही झुकाव शहरी क्षेत्रों में शिक्षा के प्रति है। हमारे देश में ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक और माध्यमिक स्तर पर शिक्षा की सुविधाओं की कमी है जबकि शहरी क्षेत्रों की स्थिति अन्यथा है। 1971 की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में साक्षरता के आंकड़े 23.6 और 52.48 प्रतिशत रहे। स्वराज के आगमन के साथ ही साथ ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा की गुणवत्ता में कमी आई है और शहरी क्षेत्रों में शिक्षा में सुधार हुआ है। इसलिए इन दोनों क्षेत्रों की संस्थाओं से शिक्षित व्यक्तियों की गुणवत्ता में भी भारी अन्तर दिखाई देता है।

ग्रामीण बच्चे को शायद ही शहर के बच्चे की तुलना का आधा ही अवसर मिल पाता हो। इसी प्रकार ग्रामीण अध्यापकों की संख्या और कुशलता में भी भारी कमी है। 1961 में शिक्षणीय आयु के प्रति व्यक्ति के हिसाब से ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में शहरी क्षेत्रों में (सभी प्रकार के) शिक्षकों की संख्या दुगुने से थोड़ी अधिक थी। इसके अलावा अध्यापन के स्तर में भी असमानता बढ़ी है; माध्यमिक स्तर पर

ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों में प्रति संभाव्य छात्र के हिसाब से 7 गुने अध्यापक थे।

केवल आंकड़ों से ही ग्रामीण अध्यापन के अनौचित्य को नहीं समझाया जा सकता। पाठ्य पुस्तकें भी सफलतापूर्वक शहरीकरण का अलग से परिचय कराती हैं। कृषि-कार्य के लिए कार्यक्षम प्रशिक्षण बहुत ही कम है। स्कूलों में छुट्टियों के गलत समय के कारण बहुत से विद्यार्थी स्कूल को छोड़ देते हैं। भारत के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश में स्कूल की परीक्षाएं ठीक उसी समय ली जाती हैं जब फसल काटने का मौसम अपनी चरम सीमा पर होता है।

तालिका 89 और 90 में उन अवसरों के बारे में तथ्य दिए गए हैं जो ग्रामीण क्षेत्रों के युवाओं की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों में युवाओं को अपेक्षाकृत अधिक तकनीकी और उच्च शिक्षा उपलब्ध कराते हैं।

6 व्यवसायों अर्थात् वास्तुकला, इंजीनियरी, विधि, प्रबंध, चिकित्सा और समाज कार्य के संबंध में व्यावसायिक प्रशिक्षण के 12 कालेजों और संस्थाओं के विद्यार्थियों की सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि का अध्ययन किया गया है। यह अध्ययन बलदेव आर० शर्मा ने किया है और इसका प्रकाशन 'इकनॉमिक एंड पॉलीटिकल वीकली', बंबई के फरवरी, 1976 के अंक में हुआ है। इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि "हमारे देश में, जहां अब भी गांवों की संख्या कहीं अधिक है, चुने गए व्यवसायों में ग्रामीण विद्यार्थियों का प्रतिनिधित्व केवल 13 प्रतिशत तक है जबकि शहरी क्षेत्रों के विद्यार्थियों की कुल संख्या का प्रतिनिधित्व कहीं अधिक है।"

तालिका 90

तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा तथा प्रशिक्षण संस्थाओं के विवरण और उनमें भरती किए गए विद्यार्थियों की संख्या जैसी कि 31-12-1973 को थी

प्रकार	ग्रामीण		शहरी	
	सस्थाएं	नामांकन (लाखों में)	संस्थाएं	नामांकन (लाखों में)
1	2	3	4	5
पॉलीटैकनीक	32	0.07	295	0.96
2. औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान	36	0.09	329	1.30
3. जूनियर तकनीकी स्कूल	50	0.07	216	0.38
4. दस्तकारी और हस्तकला	177	0.04	293	0.14
5. औद्योगिक और तकनीकी स्कूल	263	0.10	1131	0.66

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6
6.	नर्सिंग, ए एन एम और स्वास्थ्य निरीक्षक	22	0.01	504	0.33
7.	संगीत नृत्य और नाट्य स्कूल	15	0.02	179	0.17
8.	अन्य	175	0.16	508	0.54
	जोड़	770	0.56	3455	4.48

तालिका 91

उच्च शिक्षा में ग्रामीण और शहरी संस्थाओं तथा उनमें नामांकन के आंकड़े—जैसे कि 31-12-1973 को थे

संस्था का प्रकार	ग्रामीण		शहरी	
	संस्थाओं की संख्या	नामांकन (लाखों में)	संस्थाओं की संख्या	नामांकन (लाखों में)
1. विश्वविद्यालय	18	0.25	93	2.49
2. कला-विज्ञान और वाणिज्य कालेज	910	3.08	1968	13.77
3. इंजीनियरिंग/प्रौद्योगिकी	19	0.11	61	0.46
4. चिकित्सा (एलोपैथी)	9	0.06	95	0.71
5. आयुर्वेदिक/यूनानी	11	0.01	61	0.12
6. औषध-निर्माण	—	—	9	0.02
7. दन्त्य	—	—	8	0.02
8. नर्सिंग	—	—	10	0.01
9. कृषि	3	0.01	6	0.02
10. पशुचिकित्सा	1	*	2	0.01
11. अन्य	143	0.14	429	1.10
जोड़	1114	3.66	2742	18.73

* नगण्य

टिप्पणी : तीसरे अखिल भारतीय शिक्षा सर्वेक्षण से लिए गए और उसी सर्वेक्षण पर आधारित आंकड़े ।

तालिका 92

पृष्ठभूमि	संख्या	प्रतिशतता
गांव	219	13.88
नगर (एक लाख से कम आबादी वाले)	268	16.01
शहर (एक लाख या इससे अधिक आबादी वाले)	1159	69.24
जिसका पता नहीं लगा है।	28	1.67
जोड़	1674	100.00

विद्यार्थियों के 2 प्रतिशत से कम पिता उच्च व्यवसायों में लगे हुए थे; केवल 11 प्रतिशत कृषि में और 6 प्रतिशत क्लर्की तथा विक्रेता के काम में लगे हुए थे। कुल मिलाकर केवल $\frac{1}{5}$ पिताओं ने इन तीनों वर्गों में काम किया था। इसके विपरीत 72 प्रतिशत पिता या तो उद्योग और सरकार में पर्यवेक्षक तथा प्रशासक के पदों पर कार्य कर रहे थे अथवा अपने ही कार्यों में लगे हुए थे। 59 प्रतिशत पिता वरिष्ठ सरकारी अधिकारी, व्यापारी अथवा उच्च व्यवसायों में लगे हुए थे।

इसी प्रकार, 1975 में टैकनोलॉजी के 5 भारतीय संस्थानों में संयुक्त प्रवेश परीक्षा के विश्लेषण से यह पता लगा है कि प्रातिनिधिक उम्मीदवार ऐसे थे जिनकी आयु लगभग 17 वर्ष थी और वे ऐसे परिवारों के थे जिनमें 5 सदस्य थे तथा उनके पिता या अभिभावक की वार्षिक आय लगभग 14,500 रुपए थी। वे शहर से आए थे और उन्होंने अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा देने वाले स्कूलों में शिक्षा पायी थी। ऐसी परीक्षाओं में प्रवेश पाने के अवसरों की सफलता माता-पिता की आय में वृद्धि के साथ बढ़ जाती है। यदि माता-पिता की वार्षिक आय 25,000 रुपए से अधिक हो तो प्रवेश पाने वाले विद्यार्थियों की संख्या में भी उन विद्यार्थियों की अपेक्षा 10 गुनी वृद्धि होती है जो निर्धनतम परिवारों से आते हैं।

इन सफल उम्मीदवारों में से केवल 20 प्रतिशत उम्मीदवार उन 'निर्धन परिवारों' के हैं जिनमें माता-पिता की वार्षिक आय 6,000 रुपए से अधिक नहीं है। गांवों से आए हुए उम्मीदवारों की अपेक्षा शहरों के छः गुने उम्मीदवार सफल हुए और शहरों के उम्मीदवारों को योग्यता सूची के स्थानों में 90 प्रतिशत स्थान प्राप्त हुए।

गांव में सामान्य जनता, अर्थात् अनुसूचित जातियों या जनजातियों के अलावा, निम्न स्तर की तकनीकी शिक्षा में कितना सफल हो पाती है, इस तथ्य को 18 अप्रैल, 1976 को प्रकाशित 'स्टेट्समैन', नई दिल्ली की रिपोर्ट में दिखाया गया है :

निर्धनों का नया वर्ग

(हमारे विशेष प्रतिनिधि द्वारा)

अनुसूचित जातियों और जनजातियों की तुलना में तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में अपेक्षाकृत एक अधिक न्यून सुविधाप्राप्त वर्ग उभरा है। जैसा कि भारतीय तकनीकी संस्थान में संयुक्त प्रवेश परीक्षा के विश्लेषण से ज्ञात होता है।

यह वर्ग अनुसूचित जातियों और जनजातियों के अलावा पूर्ण ग्रामीण समुदाय का है। इस वर्ग में से कुछेक विद्यार्थियों को गत वर्ष की परीक्षा में सफलता मिली जबकि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के उम्मीदवारों की सीटों का आरक्षण होता है और उन्हें इन परीक्षाओं में सफलता पाने के लिए परीक्षा का स्तर कम कर दिया जाता है। इन उम्मीदवारों में से लगभग आधे उम्मीदवार देहाती क्षेत्रों के थे और तीन-चौथाई विद्यार्थी उन भारतीय भाषाओं के स्कूलों से आए थे जो विशेषकर ऐसे स्कूल हैं जिनमें ग्रामीण विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते हैं।

दिल्ली आई० आई० टी० के डॉ० ए० के० वसु द्वारा किए गए इस परीक्षा के परिणाम के विश्लेषण ने प्राधिकारियों को गंभीरतापूर्वक विचार करने के लिए उन्मुख कर दिया है। आई० आई० टी० परिषद् की आज यहां बैठक हुई जिसके अध्यक्ष शिक्षामंत्री प्रोफेसर नूरुल हसन थे। इस परिषद् ने यह निर्णय किया है कि अवसर की उन स्पष्ट असमानताओं के कारणों की जांच की जाए जिन्हें अधिकांश जनता को बरदाश्त करना पड़ता है।

आई० आई० टी० में प्रवेश पाने के लिए 21 प्रतिशत स्थान इन रियायतों के अंतर्गत अनुसूचित जातियों व जन-जातियों को दिए जाते हैं। इस वर्ग के विद्यार्थियों को इस प्रवेश परीक्षा हेतु न्यूनतम प्रवेश स्तर की कमी को पूरा करने के लिए अलग से विशेष रूप से अध्ययन कराया जाता है। इसके अलावा उन्हें अपने खर्च के लिए 150 रुपए प्रतिमास भी दिए जाते हैं।

यहां यह बताना संगत है कि हमारी जनता के आधे से अधिक लोग निर्धनता रेखा से नीचे जीवनयापन करते हैं। इस जनता में से अनुसूचित जातियों और जनजातियों का केवल 22.5 प्रतिशत भाग है और इनमें से सभी गरीबी-रेखा के नीचे अपना जीवनयापन नहीं करते। यह भी देखा गया है कि सरकारी कार्यों में उनके पक्ष में आरक्षण और अन्य सुविधाओं के दिए जाने पर भी इन अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्य उस सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षिक और प्रशासनिक शक्ति के एकाधिकार में अपना कोई भी दखल नहीं कर पाये हैं जिसका लाभ आज शहरी विशिष्ट वर्ग के लोग अथवा उच्च जातियों के लोग उठा रहे हैं। लेकिन जैसा कि 'स्टेट्समैन' में बताया गया है, इस स्थिति से विशेषकर उत्तरी भारत में 'निर्धनों' का एक नया वर्ग बन गया है। शायद, एक से अधिक कारणों से नौकरी आरक्षण की नीति

पर, चाहे उसका संबंध अनुसूचित जातियों और जनजातियों अथवा पिछड़ी जातियों से ही क्यों न हो, फिर से विचार करना अपेक्षित है।

भारत में प्रौढ़ शिक्षा के प्रति लापरवाही बहुत अधिक है। लगभग प्रत्येक विकासशील देश में जहां निरक्षरता के उन्मूलन के लिए विशेष प्रयास किए गए हैं, यथा—चीन, क्यूबा या यहां यक कि तंजानिया में भी वहां स्कूल जाने वाले बच्चों के बराबर ही प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों पर विशेष बल दिया गया है। भारत को भी अन्य देशों के उदाहरण का अनुसरण करना चाहिए, जिनके अनुभवने यह दिखा दिया है कि लोग सीखते हैं और सीखने के इच्छुक होते हैं, यदि उन्हें वही सब कुछ पढ़ाया जाए जो उनके प्रतिदिन के जीवन से संबंधित हो। हमें अपनी जनता के अलग-अलग वर्गों के लिए वैज्ञानिक साक्षरता कार्यक्रमों को अपनाना चाहिए और ऐसा करते समय जनता की सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक पृष्ठभूमि का ध्यान रखना चाहिए।

यदि अपने देश में कृषि की संवृद्धि की आवश्यकता को प्रमुख माना जाए तो उन सबके लिए जो आज हमारे भाग्य-निर्माता हैं, यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि कृषि-शिक्षा, प्रशिक्षण और शोध को उच्च प्राथमिकता देनी चाहिए। लेकिन अभी तक हमें जो अनुभव हुआ है उससे यह विदित होता है कि हमारे राजनीतिक नेताओं और आर्थिक आयोजकों में इस प्रकार की कोई समझ नहीं है। अभी तक कृषि-शिक्षा एक अलग 'वर्ग' बना हुआ है जिसे सामान्य योजना और पुनर्योजना से कोई लाभ नहीं होता। इसको सामान्य शिक्षा की तुलना में घटाकर माना जाता है और वास्तव में इसे सामाजिक अलगाव का साधन समझा जाता है।

माइकेल लिपटन ने कहा है, "कृषि-शिक्षा शायद ही प्राथमिक स्तर अर्थात् 12 वर्ष की आयु से पूर्व उपलब्ध की जाती है और 12 वर्ष की आयु के बाद स्कूल जाने वाले बच्चे शायद ही कृषि-कार्य पर लौटकर आते हैं। शिक्षा आयोग ने उपयुक्त विश्वविद्यालय-पद्धति के बाहर कृषि विश्वविद्यालयों का समर्थन करते हुए एक विधा के रूप में कृषि की निम्न प्रतिष्ठा को रेखांकित किया है। शोध के स्तर पर कुछ ही प्रमुख भारतीय सामाजिक वैज्ञानिक उन सभी सिद्धांतों को ग्रामीण स्तर पर परीक्षण करने के लिए प्राथमिकता देना चाहेंगे जिनके सभी मॉडल दिल्ली या अमरीका में तैयार किए गए हैं; इस प्रकार की शोध परियोजनाओं के लिए वित्त का आवंटन इस प्राथमिकता का समर्थन करता है।"[4]

श्री लिपटन ने यह इंगित किया है कि आगत और निर्गत के संबंधों के विषय में शोध-कार्य औद्योगिक क्षेत्र में अब भी केंद्रित है। हमें मोटे तौर पर अभी तक यह भी ठीक से विदित नहीं हुआ है कि राहत के रूप में या उर्वरक उत्पादन सहायता के रूप में दिए गए अतिरिक्त सौ रुपयों से केरल या पश्चिम बंगाल में अधिक चावल पैदा हो पाता है या नहीं।

4. माइकेल लिपटन का लेख "ईस्ट्रैटेजी फॉर एग्रीकल्चर : अरबन बॉयस एण्ड रूरल प्लैनिंग" जो इस्ट्रैकिटन और लिपटन की पुस्तक 'द क्राइसिस ऑफ इण्डियन प्लैनिंग' में शामिल किया गया है।—इस्ट्रैकिटन ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस लंदन, बंबई 1968, पृष्ठ 103.

ग्रामीण क्षेत्रों से संबंधित क्षमताओं का विकास करने के संबंध में अभी तक उल्लेखनीय प्रगति की आवश्यकता अनुभव नहीं की गई है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी का समस्त अभिनवीकरण उन उपयुक्त उत्पादन तकनीकों के विकास के लिए होना चाहिए जिनमें ऐसे लघु यांत्रिक सुधार शामिल किए जाएं जो श्रम को कम किए बिना ही उत्पादकता को बढ़ा सकें, काम की ऊब को दूर कर सकें और ग्रामीण क्षेत्रों में रहन-सहन की परिस्थितियों को अधिक अच्छा बना सकें। उदाहरण के लिए उन्नत हल और सिंचाई उपकरणों के इस प्रकार डिजाइन करने की आवश्यकता है जो स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल हों और इनका प्रसार ग्रामीण क्षेत्रों में किया जाना चाहिए। यदि एक बार फसल-उत्पादन, प्रक्रमण और अन्य कार्यकलापों को वैज्ञानिक दृष्टि से अभिप्रेरित कर दिया जाए तो ग्रामीण जीवन आकर्षक बन जाएगा। अलबत्ता, प्रौद्योगिकी का उन्नयन वरणांत्मक होना चाहिए ताकि कार्य के प्रति संतोष में सुधार आए और कार्य स्वयं लुप्त भी न हो। कम लागत और साधारण सुधारों से यह सुनिश्चित हो जाएगा कि जनता के कमजोर वर्गों तक इनके लाभ पहुंचें।

किसानों की काम के प्रति प्रवृत्ति, खुराक—विशेषतया प्रोटीन; जलवायु—विशेषकर व्यस्ततम मौसमों में आर्द्रतापूर्ण ग्रीष्म; स्वास्थ्य—विशेषकर कृमि और पेचिश; पैदावार और प्रयत्न करने की आवश्यकता से सुनिश्चित की जाती है। लेकिन अभी तक कृषि-कार्यकुशलता के लिए खुराक और स्वास्थ्य के प्रभाव को शोध और विश्लेषण के लिए ठीक विषय नहीं समझा गया है।

कृषि आयोजन में शहरी पक्षपात के साक्ष्य के एक भाग की दृष्टि से यह उल्लेखनीय है कि मोटे अनाज और दालों, अधिक प्रोटीन वाली परन्तु प्रतिष्ठा में कम समझी जाने वाली फसलों की अपेक्षाकृत धीमी गति से संवृद्धि हुई जिनका ग्रामीण क्षेत्रों में जीवन-निर्वाह के लिए अधिक उपभोग किया जाता है। आयोजकों को मुख्यतया यह चिंता रही है कि नगरों के लिए बेशी खाद्यान्न को निकाला जाए और इसीलिए उन्होंने गेहूं तथा चावल पर विशेष ध्यान दिया है।

इसके अतिरिक्त, गांव से रहने वाले अथवा गांव से आने वाले लड़कों के लिए किसी भी प्रकार की शिक्षा क्यों न उपलब्ध हो, इससे ग्रामीण प्रतिभावान लड़कों को शहर में रोजगार खोजने का प्रोत्साहन मिलता है। दिल्ली विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के सर्वेक्षण से यह पता लगा है कि 1957-58 में केवल 3.8 प्रतिशत कृषि परिवारों से आए विद्यार्थी थे और 1.1 प्रतिशत विद्यार्थी लौटकर अपने कृषि-कार्य पर जाने के लिए इच्छुक थे। इस सर्वेक्षण के अनुसार 22.2 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों से आए थे। मोटे तौर पर तुलनात्मक अध्ययन से यह सुझाव मिलता है कि अधिक से अधिक 7.5 प्रतिशत गांव को लौट जाते हैं। इस प्रकार दिल्ली विश्वविद्यालय के ग्रामीण क्षेत्रों के कम से कम दो-तिहाई विद्यार्थी (22.2 के अनुपात में 22.2-7.5) विश्वविद्यालय की शिक्षा के सहगामी होने के नाते (और कई मामलों में निश्चय ही विश्वविद्यालय की शिक्षा के परिणामस्वरूप) शहरी क्षेत्रों को 'पलायन' कर जाते हैं। इस तथ्य का मुख्य कारण यह है कि वर्तमान नीतियों के अधीन प्रशिक्षित लोगों के लिए गांवों में बहुत ही कम रोजगार की

संभावनाएं हैं, इसलिए (कतिपय आदर्शवादियों को छोड़कर) ग्रामीण क्षेत्र में जन्म लेने वाले भूतपूर्व शिक्षित व्यक्ति गांव में लौटकर असफल रह जाते हैं। 1960-61 में भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वालो मैट्रिक तथा ग्रेजुएट परीक्षा में सफल उम्मीदवारों में से एक उम्मीदवार बिना कार्य के रह गया जबकि इसकी तुलना में नगरों में 16 में से एक उम्मीदवार बिना कार्य के रहा। यदि एक बार काम मिल जाय तो मैट्रिक-परीक्षा उत्तीर्ण उम्मीदवार ग्रामीण क्षेत्र की अपेक्षा शहरी क्षेत्र में 43 प्रतिशत अधिक आय पैदा करने की आशा करता है और शहरी ग्रेजुएट उम्मीदवार, अशिक्षित उम्मीदवार के केवल 25 प्रतिशत की तुलना में इससे 3 गुने से अधिक कमा लेता है जिससे वह शहरी जीवन की बेशी-परिवहन तथा घर की आवश्यकताओं और गांवों की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों की 10 से 15 प्रतिशत अधिक कीमतों को ही पूरा कर पाता है।

यह भी विदित होगा कि शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के सार्वजनिक नौकरी के वेतन और प्रतिष्ठा में भी बहुत बड़ा अन्तर है। केन्द्र और राज्य सरकारें मजदूरी के प्रोत्साहन के जरिये ग्रामीण क्षेत्रों में लाभप्रद कर्मचारियों की आपूर्ति को बढ़ा सकती हैं। लेकिन वे आरक्षण की नीति का अनुसरण करती हैं। अध्यापकों और सरकारी कर्मचारियों को यदि वे नगर में रहते हैं तो उन्हें नगर प्रतिकर भत्ता मिलता है लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वालों को कोई भत्ता नहीं दिया जाता। भारतीय प्रशासकीय सेवा में प्रतिष्ठा, उन्नति की संभावनाएं और वेतन काफी अधिक हैं और यह स्थिति वित्त मंत्रालय में विशेष रूप से पायी जाती है; कृषि-प्रशासन कार्य जो मुख्यतया विकास ब्लाक के निर्णायक स्तर पर है, सदैव ऐसे लोगों के हाथों में रहा है जिन्हें भारतीय प्रशासन सेवा में प्रवेश पाने के कोई अवसर उपलब्ध नहीं हैं। पुलिस विभाग में द्वितीय ग्रेड के अधिकारी अथवा पी० सी० एस० अधिकारी को कहीं अधिक प्रतिष्ठा मिल जाती है जबकि कृषि विभाग में काम करने वाले प्रथम ग्रेड के अधिकारी को भी उतनी प्रतिष्ठा नहीं मिल पाती।

निजी क्षेत्रों में काम करने वालों में से आधुनिक मिलों में काम करने वाले कार्यकर्त्ताओं ने समीपवर्ती गांवों के लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। शहरी औद्योगिक कार्यकर्त्ता की जितनी अधिक उत्पादनशीलता होती है, उसके फलस्वरूप उसे उतनी ही अधिक मजदूरी दी जाती है और इससे जीवन-यापन की ऐसी शैली का जन्म होता है जो लोगों के गांवों से निकल कर शहरों में काम करने का सबसे बड़ा कारण साबित हुई है।

इसलिए पाठक को इस बात पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि मेधावी युवकों को इस बात के लिए राजी करना कठिन है कि वे ग्रामीण अभिनवीकृत क्षेत्रों, यथा—वन-रोपण अथवा कृषि विज्ञान, में कार्य करके अपनी उन्नति करें, अथवा यह कि कुशल कार्यकर्त्ता गांव से नगर में चले जाते हैं। शहरी क्षेत्रों में तीव्रगति से आय बढ़

जाती है और बढ़ी हुई आय के प्रलोभन से प्राइवेट सेवाओं में वकीलों, डाक्टरों और अन्य कार्यकर्त्ताओं को शहरों में जाने भी इच्छा होती है।

इसके साथ ही साथ, हमारे गांवों से बड़ी तेजी से प्रचुर लोक-साहित्य का लोप होता जाता है। तीज जो महिलाओं के लिए ही गीत और मनोरंजन का एक त्यौहार है; होली जो संगीत और गीतों से भरपूर ऐसा त्यौहार है जो अपने पूर्वजों की शान और वीरता के गुण-गान करके उनकी याद कराता है; पुरोहितों अथवा संन्यासियों के धार्मिक प्रवचन और सामुदायिक जीवन तथा संस्कृति के अन्य चिह्न धीरे-धीरे लोप होते गए हैं अथवा लोप होने के मार्ग में हैं। रामलीला धीरे-धीरे अतीत की चीज बनती जा रही है; कुश्ती लड़ने वाले अखाड़ों को नीची निगाह से देखा जाता है। अभी तक उन पुरानी चौपालों के स्थान पर पंचायत घरों की पूर्णरूपेण स्थापना नहीं हो सकी है जो गांव के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की धुरी रहे हैं। अब इन सभी कार्यकलापों अथवा मनोरंजन के कार्यक्रमों की जगह पर सिनेमा मुख्य स्थान लेता जा रहा है, जिसका आत्मीयतापूर्ण ग्रामीण समाज पर अनुमतिबोधक तथा नैतिक पतन का प्रभाव पड़ रहा है।

वास्तव में शहरी पक्षपात से आविर्भूत हमारी नीतियों और प्रशासन स प्रात्साहित शिक्षा-पद्धति ने लोगों को गांव से शहर को जाने के लिए प्रोत्साहित किया है जिसके कारण असमानता में वृद्धि होने लगी है। शिक्षित और उद्यमी युवक ग्रामीण नेतृत्व संभाल सकते थे तथा सामाजिक परिवर्तन ला सकते थे लेकिन वे गांव छोड़कर नगरों को जा रहे हैं। इसके विपरीत शहरी श्रेष्ठ व्यक्ति, यथा---डॉक्टर गांव को भद्दा तथा रहने योग्य न मानकर उसकी निंदा करते हैं। वास्तव में सभी शिक्षित व्यक्ति गांवों में तैनात किए जाने से बचना चाहते हैं। यहां तक कि जो लोग गांवों में पैदा हुए और उनका गांवों में ही लालन-पालन हुआ, वे भी शहरों में अपनी शिक्षा अथवा सेवा-प्रतियोगिता में सफलता के बाद अपने घरों को वापस नहीं जाना चाहते। इसलिए, अधिकांश में एक ओर से ही लोगों का स्थानांतरण होता है। इसका परिणाम यह है: शहरी शक्ति की वृद्धि होती है क्योंकि कुशल ग्रेजुएट शहरों में आकर बस जाते हैं तथा ग्रामीण जीवन में गुण-ह्रास आ जाता है क्योंकि वहां संभाव्य बुद्धिजीवी अपना घर छोड़कर शहरों में आ जाते हैं। शहरी जीवन के आकर्षण ने गांवों से ग्रामीण जनता के महत्त्वाकांक्षी और सशक्त सदस्यों को अपनी ओर खींचा है---विशेषकर वे लोग भी शहरों में पहुंच गए हैं जो अपने गांवों में रहकर अपने आर्थिक जीवन के बदलने में मुख्य भूमिका अदा कर सकते थे। इस प्रकार केवल पूंजी संसाधन ही नहीं बल्कि प्रतिभा अथवा बौद्धिक शक्ति का भी नगर को पलायन हुआ है और नगर गांव को उत्तरोत्तर निर्धन बनाते जा रहे हैं।

यह अशुभ घटना ही है कि ग्रामीण स्वयं शहरी जीवन को अपन भावष्य का आदर्श मानने लगे हैं। वे शहर को इस प्रकार देखते हैं मानो शहर उन्हें अपेक्षाकृत अधिक अच्छा जीवन दे सकते हैं; यथा---वे आज शहर से कुछ नहीं पा सकते अथवा वे

अपने लिए कुछ नहीं पा सकते फिर भी वे अपने बच्चों के लिए कभी न कभी कुछ प्राप्त ही कर लेंगे।

शहरी पक्षपात को लेकर भारतीय योजना और प्रशासन के संबंध में उपर्युक्त कथन दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों की प्रतिकृति है। इस स्थिति का वर्णन रिचर्ड स्मिथ ने अपने लेख—"टिल्टिंग टुवर्ड्स दी सिटी" (शहर की ओर झुकाव) में किया है। यह लेख 17 मई, 1976 के 'न्यूज़वीक' (अमरीका) में प्रकाशित हुआ है। इस लेख में यह कहा गया है :

"फिलीपिन्स में सरकारी एजेंसियां और निजी तौर पर पूंजी लगाने वाले व्यक्ति समान रूप से गगनचुंबी भव्य भवनों, ऊंचे-ऊंचे आवासों और कार्यालय के कॉम्प्लेक्स के निर्माण में पर्याप्त धन लगाते हैं। इसके साथ ही साथ ग्रामीण क्षेत्रों में अनगिनत बच्चे कभी स्कूल भी नहीं जाते क्योंकि उनके पास पर्याप्त कपड़े तक नहीं हैं। इण्डोनेशिया में इस बात का प्रयत्न किया गया है कि राष्ट्र के 7,000 डाक्टरों को पूरे द्वीप-समूह में तैनात कर दिया जाए लेकिन उन डॉक्टरों में से कम से कम 3,500 डॉक्टर अभी भी जकार्ता में रहते हैं और वहीं काम करते हैं। इसका अर्थ है कि देश के 50 प्रतिशत डॉक्टर केवल 4% से भी कम जनता की सेवा कर पाते हैं। और बर्मा में, वर्षों तक राष्ट्र के कृषि-आधार के प्रति अवहेलना की गई जिसके कारण अविश्वसनीय परिणाम हुआ! बर्मा किसी समय विश्व में सबसे अधिक चावल का निर्यात करने वाला देश था, अब बर्मा अपनी जनता का कठिनाई से भरण-पोषण कर पाता है तथा वहां चावल की पैदावार भी कम होती जा रही है।

"इस विषय पर अलग-अलग विचारों का कोई अन्त नहीं है। एशिया की सरकारों की जड़ें गहराई तक बड़े शहरों में धंसी हुई हैं और ऐसा लगता है कि वे अपने ही ग्रामीण नागरिकों के खिलाफ संघर्ष करने में जुटी हुई हैं जिसके फलस्वरूप बिना किसी अपवाद के किसानों को हानि हो रही है। आज के युग में जबकि प्रगति को प्रायः औद्योगिकीकरण, चमक-दमक, उच्च प्रौद्योगिकी का समानार्थी माना जाता है, अतः शहरी परियोजनाओं को सांसारिक कृषि कार्यों से वरीयता दी जाती है। एशिया के नये व्यापार के सदस्य और सरकार के प्रबुद्ध व्यक्ति शहरी शिक्षित तथा शहरी अभिनवीकृत स्थिति की ओर प्रवृत्त हैं तथा ग्रामीण जीवन और ग्रामीण क्षेत्र की समस्याओं के प्रति अनभिज्ञ होकर ग्रामीण क्षेत्र की अवहेलना करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि राष्ट्रीय बजट प्रायः स्वास्थ्य-देखभाल से लेकर उच्च मार्गों के निर्माण तक में शहरों की ओर ही उन्मुख होते हैं। और इस प्रकार ग्रामीण विकास के लिए जो भी न्यूनतम संसाधन आवंटित किए जाते हैं, ग्रामीण क्षेत्र में पहुंचने से पूर्व अयोग्य दफ्तरशाह उनका अपव्यय कर देते हैं अथवा भ्रष्ट अधिकारी उन्हें नष्ट कर देते हैं।"

दूसरा भाग

9

औद्योगिक ढांचा

"राज्य सरकार ग्रामीण क्षेत्रों में वैयक्तिक अथवा सहकारी आधार पर कुटीर उद्योगों में अभिवृद्धि करने का प्रयास करेगी।"

—भारतीय संविधान का अनुच्छेद 43

भोजन के अतिरिक्त मनुष्य की आवश्यकताएं इतनी अधिक और अलग-अलग प्रकार की हैं कि वस्तुतः विनिर्मित वस्तुओं के इस्तेमाल या उपभोग और सामाजिक सेवाओं के उपयोग पर कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती। उद्योग और सेवा क्षेत्रकों में भी गंभीरतापूर्वक कोई भी सीमाबद्ध करने वाला कारक नहीं है। यदि इससे ऐसी कृषि भूमि की उपलब्धता की तुलना की जाए जिससे वर्धमान प्रतिफलों की उपलब्धि में बाधा आती है तो कृषीतर संसाधनों और असंख्य अवसरों के लिए कोई सीमा नहीं है जिनकी भारत जैसे विकासशील देश को आवश्यकता हो सकती है अथवा उनकी आवश्यकता बनाई जा सकती है और इस प्रकार कृषीतर व्यवसायों में काम करने वाले लोगों की संख्या की भी कोई सीमा नहीं है। इसलिए कृषीतर संसाधनों का विकास आवश्यक है ताकि केवल हमारे रहन-सहन का स्तर ही ऊंचा न हो सके अपितु रोजगार का भी एक स्रोत बन सके।

प्रश्न इस बात का है कि हम किस प्रकार का औद्योगिक ढांचा अपनाएंगे अथवा 1947 में राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति पर किस प्रकार का ढांचा अपनाया जाना चाहिए था। इस संबंध में दो प्रकार के दृष्टिकोण या विचारधाराएं हैं—इनमें से पहला महात्मा गांधी की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है जो हमारे भारत की राजनीतिक जागृति के युगचेता थे और दूसरा जवाहरलाल नेहरू की विचारधारा का समर्थन करता है जो स्वतंत्र भारत के पहले प्रधानमंत्री थे।

फिर भी, इससे पहले कि हम इस बारे में चर्चा करें कि कौन-सा औद्योगिक ढांचा हमारे देश के लिए उपयुक्त होगा, यह आवश्यक है कि विभिन्न प्रकार के उद्योगों को परिभाषित कर दिया जाए।

मोटे तौर पर 'कुटीर' उद्योग वह उद्योग हो सकता है जिसे परिवार या घराने के सदस्य चलाते हैं और जिससे हाथ से चलाए जाने वाले उपकरणों और तकनीकों की सहायता से परंपरागत वस्तुएं तैयार की जाती हैं। 'छोटे पैमाने' का उद्योग ऐसा उद्योग होता है कि यदि उसे बिजली की सहायता से चलाया जाए तो उसमें 9 से कम कामगारों को मजदूरी पर रखा जाता है और यदि इस उद्योग को बिना बिजली की सहायता के चलाया जाए तो उसमें 19 तक कामगार काम पर लगाए जाते हैं। कुटीर और लघु उद्योग के अलावा जितने भी उद्योग हैं उन्हें पूंजी-प्रधान अथवा बड़े उद्योग माना जा सकता है।

महात्मा गांधी ने देश में कुटीर उद्योगों के प्रयोग और प्रोत्साहन का सदैव समर्थन किया। उन्होंने कहा कि भारत गांवों का देश है, शहरों का नहीं। ग्रामीण निर्धन हैं क्योंकि उनमें से अधिकांश लोगों को कम रोजगार मिलता है अथवा बिलकुल भी रोजगार नहीं मिलता है। उन लोगों को उत्पादक रोजगार दिए जाने चाहिए जिससे देश की संपत्ति में वृद्धि होगी। उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि ऐसी परिस्थितियों में, जब हमारे देश में विशाल मानव शक्ति है और उसकी तुलना में बहुत कम भूमि तथा अन्य प्राकृतिक संसाधन हैं, केवल कुटीर उद्योग ही ऐसा मार्ग है जिसमें बहुत कम अथवा नाममात्र की पूंजी की आवश्यकता होती है और जिससे आवश्यक रोजगार की व्यवस्था हो सकेगी तथा हमारी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति होगी। इससे अलग हटकर पूंजीगत यंत्रीकृत उद्योग जिसका आधार आर्थिक संवृद्धि की दृष्टि से पश्चिमी आदर्श है, उससे केवल बेरोजगारी बढ़ेगी तथा कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में संपत्ति एकत्र होती जाएगी और इस प्रकार अपनी सभी बुराइयों को साथ लेकर पूंजीवाद का उदय होगा। गांधीजी के नाम के साथ 'चर्खा' जुड़ा हुआ है और यह सभी प्रकार की हस्तकलाओं और कुटीर उद्योगों का प्रतीक था।

फिर भी गांधी जी का यह उद्देश्य नहीं था कि सभी मशीनरी का उन्मूलन कर दिया जाए। उन्होंने केवल इसके परिसीमन का समर्थन किया है। वह जो कुछ भी चाहते थे उसका उद्देश्य यही था कि "राष्ट्र के लोगों के बेकार समय का सदुपयोग हो और जब कभी उनके पास कोई काम न हो तब उन्हें उनके घरों में काम दिया जाए।" उनकी मुख्य चिंता यह थी कि सस्ते तरीके और सस्ती मशीनों को तैयार किया जाए ताकि वे वस्तुतः जन-जन तक पहुंचाई जा सकें। उन्होंने कहा, "मैं अपने देश के करोड़ों गूंगे लोगों को स्वस्थ देखना चाहता हूं और मैं चाहता हूं कि वे आध्यात्मिक रूप से विकसित हों...यदि हमें मशीनों की आवश्यकता महसूस होगी तो हम निश्चय ही उन्हें प्राप्त करेंगे। ऐसी प्रत्येक मशीन की उपयोगिता है जो व्यक्ति की सहायता करे लेकिन उन मशीनों का हमारे जीवन में कोई स्थान नहीं होना चाहिए जिनके माध्यम से कुछ ही लोगों के हाथों में सत्ता केंद्रित हो जाती है और जो आम लोगों को केवल मशीन-प्रवृत्त बनाती हो, यदि वास्तव में वे उन लोगों को बेरोजगार न करती हों।"

गांधी जी से जब यह पूछा गया कि क्या वे सभी मशीनरी के खिलाफ हैं तो उन्होंने इसका उत्तर दिया :

"मेरा ज़ोरदार शब्दों में उत्तर है—नहीं। लेकिन मैं इसकी अंधाधुंध वृद्धि का विरोधी हूं। मैं मशीनरी की तथाकथित विजय की चकाचौंध को स्वीकार नहीं कर सकता लेकिन मैं उन सभी सरल औजारों और उपस्करों तथा मशीनरी का स्वागत करूंगा जो झोंपड़ियों में रहने वाले करोड़ों लोगों का भार हलका करती हैं।"[1]

हम यहां एक साक्षात्कार को उद्धृत करेंगे जिससे गांधीजी का मशीनरी के प्रति रुख बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगा :

"मुझे जिस पर आपत्ति है वह मशीनरी की झक है। मुझे मशीनरी के प्रति कोई आपत्ति नहीं है। यह झक ही है कि वे मशीनरी को श्रम बचाने वाला मानते हैं। यह कहां तक ठीक है कि लोग 'श्रम को बचातें' ही रहें जबकि हजारों आदमी बेरोजगार होते रहें और भूख से मरने के लिए खुली सड़कों पर छोड़ दिए जाएं। मैं चंद आदमियों के लिए ही समय और श्रम नहीं बचाना चाहता बल्कि सभी के लिए समय और श्रम बचाना चाहता हूं : मैं चंद लोगों के हाथों में ही सम्पत्ति को केंद्रित नहीं करना चाहता लेकिन उसका वितरण सभी व्यक्तियों में कराना चाहता हूं। आज करोड़ों लोगों की रोजी-रोटी छीन-कर मशीनरी केवल कुछ ही लोगों की सहायता करती है। मशीनरी को प्रोत्साहन देना श्रम को बचाने वाली उदारता नहीं है अपितु इसमें निहित लालच है। ऐसी ही सभी बातों के विरुद्ध मैं अपनी पूरी शक्ति से लड़ रहा हूं।"[2]

प्रश्न : यदि तर्कसंगत ढंग से हिसाब लगाया जाए तो इसका निहितार्थ यह है कि बिजली से चलाई जाने वाली सभी पेचीदा मशीनरी का उपयोग नहीं होना चाहिए ?

उत्तर : ऐसी मशीनरी काम में नहीं आएगी लेकिन मैं एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूं। सर्वोच्च महत्त्व आदमी को ही देना है। मशीन को आदमी के अंगों को क्षीण नहीं करना चाहिए। उदाहरणार्थ, मैं बुद्धिसम्मत अपवाद बताना चाहूंगा। कपड़ा सीने वाली सिंगर मशीन ऐसा एक उदाहरण है। यह मशीन उन कुछेक उपयोगी मशीनों में से एक है जिनका आविष्कार किया गया है।

उन्होंने ज़ोरदार शब्दों में यह मत प्रकट किया कि "यूरोप के समान भारत का औद्योगिकीकरण असंभव प्रयास है।" इस प्रकार उन्होंने अपना यह मत 25 जुलाई 1929 के 'यंग इंडिया' के पृष्ठ 244 पर व्यक्त किया है :

"पश्चिमी सभ्यता शहरी है। इंगलैंड, अथवा इटली जैसे छोटे देश अपनी प्रणालियों को शहरीकृत कर सकते हैं। अमरीका जैसे बड़े देश में बहुत अधिक

1. 'यंग इंडिया', 17 जून, 1926.
2. वही, 13 नवम्बर, 1924.

जनसंख्या है और शायद यह देश ऐसा नहीं कर सकता। लेकिन यह विचार करना होगा कि ऐसा बड़ा देश जिसकी जनसंख्या बढ़ रही हो और जिसमें ऐसी प्राचीन ग्रामीण परंपरा का प्रमुख स्थान हो जिसने अभी तक हमारे उद्देश्य को सफल बनाया है, उसे पश्चिमी आदर्श की नकल करने की आवश्यकता नहीं है और उसे नकल भी नहीं करनी चाहिए। यदि किसी भी परिवेश में कोई राष्ट्र स्थित हो तो उस राष्ट्र के लिए जो श्रेयस्कर है, यह आवश्यक नहीं है कि वह अन्य उस राष्ट्र के लिए भी हितकर हो जो दूसरे परिवेश में स्थित हो। किसी व्यक्ति का भोजन प्रायः अन्य व्यक्ति के लिए विष बन जाता है। किसी भी देश का भौतिक भूगोल उस देश की संस्कृति को सुनिश्चित करने का सबसे सशक्त अंश है। ध्रुवीय क्षेत्रों में रहने वाले निवासियों के लिए फर का कोट उनकी आवश्यकता हो सकती है लेकिन यही कोट भूमध्य-रेखीय क्षेत्रों में रहने वालों के लिए सांस रोकने वाला वस्त्र हो सकता है।"

किसी भी खाद अथवा उर्वरक की शक्ति, रासायनिक खोज या यांत्रिकी आविष्कार से भूमि की प्रति एकड़ उत्पादकता सौ गुनी नहीं बढ़ाई जा सकती जबकि विनिर्माण के क्षेत्र में प्रति कामगार इतनी उत्पादकता बढ़ सकती है। हमारे देश में प्रति व्यक्ति भूमि के संसाधन बहुत कम हैं। भारत के अधिकांश लोग सदैव ही कृषि-कार्यों में लगे रहेंगे जबकि वे उद्योग या अन्य सेवाओं में उतना समय नहीं दे सकेंगे। वे नगरों की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या में अपना जीवन-यापन गांव में ही करेंगे इसलिए यदि औद्योगिकीकरण से यथासंभव अधिकतम उत्पादन की उपलब्धि हो भी जाए तब भी भारत पश्चिमी देशों के भौतिक स्तरों की प्राप्ति की महत्वाकांक्षा कभी नहीं कर सकता।

वास्तव में गांधी जी ने लालसापूर्वक अतीत के स्वशासित और न्यूनाधिक आत्म-निर्भर ग्राम समुदाय की ओर पुनरवलोकन किया है जहां उत्पादन, वितरण और उपभोग के मध्य अपने आप ही संतुलन का, जहां राजनीतिक और आर्थिक सत्ता सम्यक् रूप से विभाजित थी और वह सत्ता ऐसी केंद्रित भी नहीं थी जैसी कि आज है, जहां एक प्रकार का सरल लोकतंत्र व्याप्त था, जहां धनी और निर्धन के बीच में इतनी गहरी खाई नहीं थी, वहां बड़े शहरों की बुराइयां नहीं थीं और जहां के लोग जीवनदायिनी माटी के संपर्क में थे तथा उन्मुक्त वातावरण की शुद्ध वायु में सांस लेते थे।

गांधी जी ने छोटी-छोटी यूनिटों के द्वारा विकेंद्रित उत्पादन को अबाधित प्राथमिकता देने का समर्थन करते हुए कहा : "किसी भी विशेष केन्द्र में अति जटिल मशीनरी की सहायता से यथासंभव बहुत ही कम लोगों से उत्पादन करने की बजाय मैं यह चाहूंगा कि लोग अपने घरों में ही वैयक्तिक उत्पादन को करोड़ों गुना बढ़ाते रहें।"

गांधी जी भारत को जिस स्पष्ट सिद्धांत का पालन करने के लिए कहते थे वह यह था कि भारी अथवा अधिक पूंजी वाले उद्योगों को केवल ऐसी वस्तुओं के उत्पादन के लिए ही स्थापित करना चाहिए जिनका अन्य किसी प्रकार से विनिर्माण नहीं किया जा सकता और बड़े पैमाने की यंत्रीकृत परियोजनाओं को केवल उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के

लिए कार्यान्वित किया जाए जो छोटे अथवा कुटीर उद्योग के पैमाने पर मानवीय श्रम से न चलाई जा सकें। गांधी जी के विचारों को अंततोगत्वा उन्हीं के शब्दों में संक्षिप्त रूप से इस प्रकार रखा जा सकता है :

> "यदि मैं अपने विचार के अनुरूप अपने देश में परिवर्तन कर पाऊं तो यह ठीक है कि भावी सामाजिक व्यवस्था को 'चर्खा' और इसी में निहित अन्य सभी बातों पर मुख्यतया आधारित करना होगा। इसमें वह सभी कुछ शामिल किया जाएगा जो ग्रामीणों के कल्याण को प्रोत्साहित करता है। मैं ग्रामीण हस्तकलाओं के साथ-साथ बिजली, जहाज-निर्माण, लोहे के कार्य, मशीन-निर्माण आदि को भी स्पष्ट रूप से देखता हूं। लेकिन इन कार्यों पर आश्रित होने के क्रम को बदलना होगा। अभी तक औद्योगिकीकरण का नियोजन इस प्रकार किया गया है कि इसमें गांव और गांव की हस्तकलाओं को क्षति पहुंची है। भविष्य में गांव और उनकी हस्तकलाओं के लिए इसे सहायक होना होगा। मैं इस समाजवादी विश्वास के पक्ष में नहीं हूं कि जीवन की आवश्यकताओं के उत्पादन के केंद्रीकरण से आम कल्याण सुलभ हो जाएगा। जबकि सरकार ही केंद्रित उद्योग की योजना बनाएगी और सरकार ही उन पर स्वामित्व रखेगी।[3]

गांधी जी स्पष्ट रूप से जानते थे कि बड़े पैमाने पर औद्योगिकीकरण से शोषण होगा और अन्ततोगत्वा गांव नष्ट हो जाएगा। 1936 में उन्होंने एक लेख में लिखा था :

> "मैं यह कहना चाहूंगा कि यदि गांव समाप्त हो जाता है तो भारत भी समाप्त हो जाएगा। भारत फिर कभी भारत नहीं होगा। विश्व के सामने उसका जो उद्देश्य है वह भी समाप्त हो जाएगा। गांव का उद्धार केवल उसी समय संभव है जब उसका और अधिक शोषण न किया जाए। जैसे ही प्रतियोगिता और विपणन की समस्याएं सामने आएंगी, बड़े पैमाने पर औद्योगिकीकरण अवश्य ही गांव का निष्क्रिय अथवा सक्रिय रूप से शोषण करेगा। इसलिए हमें गांव को आत्मनिर्भर बनाने पर अपनी शक्ति केंद्रित करनी चाहिए और उन्हीं वस्तुओं का विनिर्माण करना चाहिए जिनका उपयोग किया जा सके। यदि गांव में उद्योग के इसी रूप का अनुरक्षण किया जाता है तो ग्रामीणों को भी उन आधुनिक मशीनों और औजारों के प्रयोग करने में कोई आपत्ति नहीं होगी जिन्हें वे बना सकते हैं और जिनका प्रयोग वे अपनी सीमा में कर सकते हैं। केवल यह बात ध्यान में रखनी है कि उन ग्रामीणों को अन्य व्यक्तियों के शोषण के साधन के रूप में काम में न लाया जाए।" (देखिए—'हरिजन', 29 अगस्त, 1936)

12 सितंबर, 1945 को बंबई में आयोजित कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने स्वतंत्रता के पहलू पर विचार करते हुए इस बात की चर्चा की कि स्वतंत्रता के बाद

3. 'व्हाई द कौन्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम ?' (रचनात्मक कार्यक्रम ही क्यों ?), अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस 1948 द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ 19.

कांग्रेस के सामाजिक और राजनीतिक कार्य क्या होंगे परन्तु इस बारे में निर्णय आगामी बैठक तक स्थगित कर दिया गया।

5 अक्टूबर, 1945 को गांधी जी ने नेहरू को लिखा, "लेकिन चाहे कार्यकारिणी समिति की बैठक हो या न हो, मैं यह चाहूंगा कि अन्य लोगों की तुलना में मेरी स्थिति क्या हो, यह बात स्पष्ट रूप से समझी जाए। यदि हमारे दृष्टिकोण में कोई सैद्धांतिक अंतर है तो जनता को इससे अवगत करा देना चाहिए। हम 'स्वराज' के लिए जो भी काम कर रहे हैं वह हानिकारक ही होगा···यदि हम जनता को अंधकार में रखते हैं।"

"यद्यपि मैं आधुनिक विज्ञान की प्रशंसा करता हूं, तथापि मेरा विचार है कि प्राचीन व्यवस्था को संवारने और सुधारने के लिए आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों का वस्तुतः उपयोग किया जाना चाहिए। आपको यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि मैं अपने देश के उस गांव पर विचार कर रहा हूं जैसा कि वह आज है। गांव के प्रति मेरे स्वप्न अभी भी मेरे मन में हैं। आखिरकार प्रत्येक व्यक्ति अपने सपनों की दुनिया में रहता है। मेरे आदर्श गांव में बुद्धिमान मनुष्य होंगे। वे पशुओं के समान धूल और अंधकार में नहीं रहेंगे। पुरुष और महिलाएं स्वतंत्र होंगी और विश्व के प्रत्येक मानव की तुलना में वे आत्म-निर्भर होंगी। गांव में न तो प्लेग होगा और न ही हैजा, न चेचक होगी और न कोई भी व्यक्ति बेकार होगा और न कोई व्यक्ति विलासिता में अपना जीवन बिताएगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने हिस्से का शारीरिक श्रम करेगा···यह संभव है कि रेल, डाक और तार पर विचार किया जाए···और इसी प्रकार के अन्य विषयों के बारे में भी सोचा जाए···।"

1941 में जब गांधी जी ने जवाहरलाल नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया तब उस समय उन्हें यह आशा थी कि जब वे स्वयं इस संसार से उठ जाएंगे तो नेहरू उन्हीं की भाषा में अपने विचार व्यक्त करेंगे। लेकिन शीघ्र ही यह आशा झूठी साबित हो गई। नेहरू ने गांधी जी से कहीं अलग हटकर उनके जीवन काल में ही अलग तरह से बोलना शुरू कर दिया। 5 अक्टूबर, 1945 के गांधी जी के उपरोक्त पत्र के उत्तर में 9 अक्टूबर, 1945 को नेहरू ने पत्र लिखा था जिसका कुछ अंश इस प्रकार है :

> "साधारण रूप से यह बात कही जा सकती है कि गांव बौद्धिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़ा हुआ है और पिछड़ेपन के वातावरण से कोई भी प्रगति नहीं की जा सकती। संकीर्ण विचारधाराओं के लोग असत्य और हिंसा की ओर प्रवृत्त होंगे।"

गांधी जी ने नेहरू से बातचीत की और उसके बाद उन्होंने 13 अक्टूबर, 1945 को पूना से नेहरू को लिखा :

> "मैंने अपनी कल की बातचीत के दौरान यह अनुमान लगाया है कि हमारे दृष्टिकोण में अधिक अंतर नहीं है। इस बात के परीक्षण के लिए मैं एक

सारांश लिख रहा हूं जैसा कि मैंने उस बातचीत को समझा है। कृपया मुझे यह लिखें कि क्या मेरे सारांश में कोई कमी रह गई है। (1) आपके अनुसार वास्तविक प्रश्न यह है कि मनुष्य का उच्चतम बौद्धिक, आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक विकास किस प्रकार किया जाए। मैं इससे पूर्णतया सहमत हूं। (2) इस विचार की परिणति के लिए सभी लोगों के लिए समान अधिकार और अवसर होने चाहिए। (3) अन्य शब्दों में, खाद्यान्न और पेयजल, कपड़े और अन्य रहन-सहन की परिस्थितियों के स्तर में नगर-निवासियों और ग्रामीणों के मध्य समता होनी चाहिए। इस समता की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि लोग अपने जीवन की आवश्यकताओं, यथा—कपड़ा, खाद्यान्न, मकान, प्रकाश और जल का उत्पादन स्वयं ही करने में समर्थ हो जाएं। (4) मनुष्य का जन्म एकाकी रहने के लिए नहीं हुआ है अपितु वह आवश्यक रूप से एक सामाजिक प्राणी है—जहां वह स्वतंत्र है वहां वह परस्पर आश्रित भी है। कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति पर शासन नहीं कर सकता और उसे शासन नहीं करना चाहिए। यदि हम ऐसे जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियां बनाने का प्रयत्न करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि हमारे समाज की यूनिट एक गांव है, या यों कहिए कि एक छोटा-सा प्रबंध किया जाने वाला लोगों का ऐसा दल है जो आदर्श रूप में आत्मनिर्भर (अपनी मुख्य आवश्यकताओं के परिवेश में) एक यूनिट होगा और पारस्परिक सहयोग तथा अन्योन्याश्रय के बंधनों में जकड़ा हुआ होगा।

"यदि मुझे यह लगने लगे कि अभी तक मैंने आपको सही समझा है, तो मैं अपने दूसरे पत्र से अपने प्रश्न के दूसरे भाग पर विचार करना प्रारंभ करूंगा।"

इसके बाद शीघ्र ही राजनीतिक परिवर्तनों के कारण फिर चर्चा शुरू न की जा सकी और बाद में दंगों के प्रारंभ होने से बातचीत नहीं हुई।

ऊपर दिए गए दोनों पत्रों के बाद लेखक को कोई भी पत्र-व्यवहार उपलब्ध नहीं हुआ है।

फिर भी जवाहरलाल नेहरू औद्योगिक विकास के हिमायती रहे और उन्होंने भारी अथवा अधिक पूंजी वाले उद्योगों पर पहले के समान ही ज़ोर दिया है। जैसा कि ऊपर ही संकेत दिया गया है, उन्होंने अपने 9 अक्टूबर, 1945 के पत्र में आगे यह भी कहा है :

"तब फिर हमें कतिपय उद्देश्य, यथा—भोजन, आवास, शिक्षा व स्वच्छता आदि, का निर्धारण करना होगा जिनकी हमारे देश और प्रत्येक देशवासी के लिए न्यूनतम आवश्यकता होनी चाहिए। इन उद्देश्यों को दृष्टि में रखते हुए हमें विशेष रूप से यह पता लगाना चाहिए कि हम उन्हें तीव्र गति से कैसे प्राप्त कर सकते हैं। मुझे यह आवश्यक लगता है कि परिवहन के आधुनिक साधन

और अन्य कई प्रकार के आधुनिक विकास-कार्य को जारी रखना चाहिए और उनका विकास करना चाहिए। सिवाय इसके कि उनको स्वीकार किया जाए, अन्य कोई रास्ता नहीं है। यदि ऐसा है तो निश्चय ही भारी उद्योग आवश्यक हैं। प्रश्न यह है कि विशुद्ध ग्रामीण समाज में इसे किस प्रकार उपयुक्त बनाया जाए। व्यक्तिगत रूप से मुझे आशा है कि सभी भारी अथवा हलके उद्योग यथासंभव विकेंद्रित किए जाने चाहिए और यह अब संभव है क्योंकि विद्युत-शक्ति का विकास हो चुका है; यदि देश में दो प्रकार की अर्थव्यवस्थाएं विद्यमान हैं तो या तो दोनों में संघर्ष होना चाहिए अथवा एक दूसरे पर हावी हो जाएगी।

" इस प्रसंग में विदेशी आक्रमण से बचाव करने के लिए और स्वतंत्रता बनाए रखने के प्रश्न पर राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। मैं नहीं समझता कि भारत वास्तव में स्वतंत्र हो सकेगा जब तक कि वह तकनीकी दृष्टि से एक उन्नत देश न बन जाए। मैं इस समय मात्र सेनाओं के बारे में नहीं सोच रहा हूं बल्कि मेरी दृष्टि वैज्ञानिक विकास की ओर भी है। विश्व के मौजूदा संदर्भ में हम सांस्कृतिक रूप से तब तक अग्रसर नहीं हो सकते जब तक कि प्रत्येक विभाग में वैज्ञानिक अनुसंधान की सशक्त पृष्ठभूमि न हो। आज विश्व में व्यक्तियों और समूहों, दोनों में ही बृहत अर्जनशीलता की प्रवृत्ति है और राष्ट्र संघर्ष और युद्धों की ओर उन्मुख हैं··· आर्थिक अथवा राजनीतिक दृष्टिकोण से एकाकी भारत एक प्रकार का शून्य स्थान बन सकता है जो अन्य देशों की अर्जनशील प्रवृत्तियों को बढ़ा सकता है और इस प्रकार संघर्ष पैदा कर सकता है।"

नेहरू के मन में जो तसवीर थी वह तसवीर उनके उस भाषण से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जो उन्होंने जनवरी, 1956 में राष्ट्रीय विकास परिषद् के समक्ष दिया था :

"स्थायी समिति की बैठक में इस बात पर अधिक बल दिया गया था कि भारी मशीन-निर्माण के उद्योग को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए क्योंकि यह कहा गया था कि यही औद्योगिक संवृद्धि का आधार हो सकता है। यदि आप इसका अनुपालन नहीं करते तो स्वाभाविक रूप से औद्योगिक संवृद्धि में देर होगी। एक उपाय है, जिसको कभी-कभी प्रस्तुत किया गया है, कि आपको अपनी उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों को बढ़ाना होगा और तभी धीरे-धीरे इसके द्वारा धन की बचत की जा सकती है और इसके अलावा कुछ अन्य वस्तुओं का भी निर्माण करना होगा, जिसके द्वारा कुछ अधिक रोजगार मिल सकेंगे। मेरा विश्वास है कि योजना की दृष्टि से यह नितांत परित्यक्त सिद्धांत है, अलबत्ता इससे इधर-उधर कुछ लाभ हो सकता है। मैं इसकी बारीकियों पर विचार नहीं करना चाहूंगा लेकिन यह दृष्टिकोण बिल्कुल भी सुनियोजित दृष्टिकोण

नहीं है। यदि आप भारत को औद्योगीकृत करना चाहते हैं और आगे बढ़ना चाहते हैं, जैसा कि हमें करना चाहिए और जो आवश्यक भी है, तब आपको औद्योगिकीकरण करना है और केश-तेल तथा इसी प्रकार की वस्तुओं के तैयार करने की छोटी पुरानी फैक्टरियों में समय नहीं गंवाना है – यह नितांत नगण्य है कि वस्तुएं क्या हैं, चाहे वे छोटी वस्तुएं हों अथवा बड़ी उपभोक्ता वस्तुएं हों, आपको जड़ और आधार तक पहुंचना चाहिए और औद्योगिक संवृद्धि के ढांचे को खड़ा करना चाहिए। इसलिए भारी उद्योग ही हैं जिनका अपना स्थान है : अन्य किसी की भी गणना नहीं की जा सकती, सिवाय इसके कि एक संतुलित कारक हो जिसका अलबत्ता महत्त्व है। हम भारी मशीन-निर्माण के उद्योगों तथा भारी उद्योगों की योजना बनाना चाहते हैं, हम ऐसे उद्योग चाहते हैं जिनकी सहायता से भारी मशीनों का निर्माण किया जा सके और हमें यथा-संभव शीघ्रता से उन्हें स्थापित कर देना चाहिए क्योंकि उनके निर्माण में समय लगता है।"

अप्रैल 1956 में भारत सरकार ने 'औद्योगिक नीति संकल्प' के नाम से एक औपचारिक संकल्प किया क्योंकि 'समाजवादी ढंग के समाज' के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि आर्थिक संवृद्धि की दर को बढ़ाया जाए, औद्योगिकीकरण में गति लाई जाए, विशेष रूप से भारी और मशीनें तैयार करने वाले उद्योगों को बढ़ावा दिया जाए, 'सार्वजनिक क्षेत्रक' का विस्तार किया जाए और एक बड़े तथा विकासमान सहकारी क्षेत्रक का निर्माण किया जाए। इस संकल्प को द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित कर लिया गया।

जवाहरलाल नेहरू ने 28 सितम्बर, 1959 को चंडीगढ़ में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक में भाषण देते हुए अपनी स्थिति बहुत स्पष्ट की। उन्होंने कहा :

"समाकलित योजना के बारे में मुख्य बात उत्पादन है, न कि रोजगार। रोजगार महत्त्वपूर्ण है लेकिन उत्पादन के संदर्भ में बिल्कुल ही महत्त्वहीन है। रोजगार उत्पादन के बाद है, उत्पादन से पहले नहीं और उत्पादन अपेक्षाकृत उन अच्छी तकनीकों से ही बढ़ सकता है जिनका अर्थ आधुनिक तरीके हैं।"

काफी समय बाद नेहरू और उनके सलाहकारों ने यह अनुमान लगाया कि औद्योगिकीकरण की दर और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की संवृद्धि कोयला, बिजली, लोहा और इस्पात, भारी रसायन और सामान्यतया भारी उद्योगों के उत्पादन की वृद्धि पर निर्भर हैं जिससे पूंजी-निर्माण की क्षमता में वृद्धि होगी। यह स्वीकार कर लिया गया था कि भारी उद्योगों को अधिक पूंजी की आवश्यकता होगी और साथ ही साथ उनके निर्माण की अवधि भी अधिक होगी परन्तु तर्क यह रहा कि इनके बिना भारत न केवल उत्पादक वस्तुएं ही आयात करता रहेगा अपितु उन आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं का भी आयात करेगा जिनसे देश में पूंजी-संचयन में बाधा होगी। यही कारण है कि पहली

पंचवर्षीय योजना को छोड़कर अन्य सभी पंचवर्षीय योजनाओं का मूलाधार यह रहा कि शीघ्र संवृद्धि के लिए भारी उद्योग ही आधार है। भारी उद्योगों के प्रसार से अधिकांशत: उस गति की सुनिश्चितता होगी जिससे अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर और आत्मसंवर्धन के लिए उपयुक्त होगी और ऐसा हो जाने पर मध्यम और लघु उद्योगों की वृद्धि को प्रोत्साहन मिलेगा जिससे उसके अलग-अलग भाग बन सकेंगे और उसके उत्पादों का उपयोग हो सकेगा और इस प्रकार अन्ततोगत्वा अपेक्षाकृत अधिक रोजगार उपलब्ध हो सकेंगे। योजना के विषय में जो नीति अपनाई गई थी उससे देश को यथाशीघ्र औद्योगीकृत करना था और इसका अर्थ यह था कि आधारभूत भारी उद्योगों को पहला स्थान देना था।

अमूर्त सघन पूंजी उद्योगों के लिए स्थितियां

नेहरू के विचारों के विरुद्ध विचारधारा के समर्थकों ने इस बात का तर्क प्रस्तुत किया कि विकास के पश्चिमी आदर्श के कारण, जिसे नेहरू अपनाना चाहते थे, प्रति कामगार अधिक पूंजी निवेश की आवश्यकता होगी और यह स्थिति भारत में न तो व्यावहारिक थी और न है।

भूमि की मात्रा और गुणवत्ता तथा अन्य प्राकृतिक संसाधन बढ़ती हुई जनसंख्या के होते हुए भी निश्चित हैं। प्रति व्यक्ति आय अथवा उत्पाद साधारणतया उसी स्थिति में बढ़ेगा यदि पूंजी की संवृद्धि की दर अथवा टैकनॉलॉजी के सुधार अथवा इन दोनों को ही मिलाकर केवल वृद्धि ही न हो अपितु जनसंख्या की बढ़ती हुई दर से भी अधिक वृद्धि हो—यह अनुमान लगाया जाता है कि क्रियाशील शक्ति भौतिक संवृद्धि की उत्कट इच्छा से अनुप्राणित है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कठोर परिश्रम करती है। इस प्रकार बचत की दर या पूंजी का संचयन, अन्य शब्दों में, अर्थव्यवस्था में पूंजी-निर्माण या निवेश की निवल दर ही, आर्थिक संवृद्धि की प्राथमिक निर्धारक होती है।

बचत आय और व्यय के बीच का अंतर कहलाती है और यह नकद या बैंक की जमा राशियों के रूप में होती है। जब इन बचतों का निवेश किया जाता है, अर्थात् —भवन, कारखाने का निर्माण या फार्म के विकास में इनका निवेश किया जाता है तो हम पूंजी का निर्माण करते हैं। सिद्धांतत: पूंजी-निर्माण में भंडार में हुई वृद्धियां भी शामिल की जा सकती हैं।

उपलब्ध पूंजी के दो घरेलू स्रोतों में से, अर्थात् ऐच्छिक बचतों और करों में से यहां हम केवल पहले प्रकार के स्रोत के बारे में कहना चाहेंगे। सघन कृषि अर्थव्यवस्था वाले देश में जहां आय बहुत कम हो और उपभोक्ता का स्तर जीवन-निर्वाह के स्तर के समीप हो, जहां जनता की कुल आय का अधिकांश भाग भोजन, कपड़ा और घरेलू आवश्यकताओं पर खर्च हो जाता हो, वहां बचतों में वृद्धि करना आसान नहीं है। 1973-74 में वर्तमान कीमतों के आधार पर निजी उपभोग 43,062 करोड़ रुपए था, जो कुल राष्ट्रीय उत्पाद का 75 प्रतिशत था जिसमें से खाद्य की मदें कुल उपभोग

की 65 प्रतिशत थीं। और जैसे ही मूल आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है वैसे ही जनसंख्या में वृद्धि हो जाती है, अतः आवश्यकताओं की आपूर्ति में भी बराबर वृद्धि होनी चाहिए। इससे ऐसी स्थिति पैदा होती है जो काफी मात्रा में बचत या पूंजी-संचयन को कठिन बना देती है।

योजना आयोग के निवेश के प्रक्षेपण को इस बात की आवश्यकता थी कि एक रुपए के मूल्य का अतिरिक्त उत्पादन पैदा किया जाए लेकिन यह स्थिति बहुत ही उलट-पलट गई है। पहली पंचवर्षीय योजना में 3:1 के वर्धमान पूंजी उत्पाद की कल्पना की गई थी। मुख्यतया उत्तम फसलें और वन काटकर खेती के लिए अधिक क्षेत्रफल के विस्तार (अलबत्ता लकड़ी की हानि और परिस्थिति की क्षति के नुकसान का कभी भी हिसाब नहीं लगाया गया) के कारण ही वास्तविक अनुपात 1.88:1 रहा। दूसरी पंचवर्षीय योजना में आयोजकों ने 2.3:1 के अनुपात को आधार-तत्त्व माना और तीसरी और चौथी पंचवर्षीय योजनाओं में क्रमशः 2.62:1 तथा 3.36:1 के अनुपात की आशा की गई। सभी प्रक्षेपण काफी आशाजनक रहे। वास्तविक अनुपात दूसरी, तीसरी और चौथी पंचवर्षीय योजनाओं में दूने से भी अधिक सिद्ध हुए।

अब यह मान लिया जाय कि भविष्य में पूंजी-उत्पादन का अनुपात घटकर 4:1 रह जाएगा और जनसंख्या की वृद्धि की दर वर्तमान 2.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष से घटकर 2.25 प्रतिशत हो जाएगी ताकि रहन-सहन के मौजूदा स्तर को बनाए रखा जाए तो हमें प्रतिवर्ष राष्ट्रीय आय के 9 (2.25 × 4) प्रतिशत निवेश की आवश्यकता होगी। इस प्रकार प्रति व्यक्ति 1 प्रतिशत उत्पाद की वृद्धि के कुल 13(9.00रु० × 4.00) प्रतिशत के अतिरिक्त निवेश की आवश्यकता होगी और 2 प्रतिशत की वृद्धि के कारण 17 प्रतिशत के निवेश की आवश्यकता होगी। लघुगणकीय तरीके से की गई गणना से यह पता चलता है कि 17 प्रतिशत की दर से पूंजी निवेश करते रहने से रहन-सहन के वर्तमान स्तर को दुगुना करने में 51 वर्ष का समय लगेगा जबकि नीचे दी गई तालिका के अनुसार बचतों से निवल घरेलू उत्पाद के अनुपात के 1950-51 में 7.0 से बढ़कर 1977-78 में 17.8 हो जाने में 27 वर्षों की अवधि लगी :

तालिका 93

घरेलू बचतें : कुल और निवल

वर्ष	निवल घरेलू बचतें		कुल घरेलू बचतें	
	करोड़ों रुपयों में	बचत की दर*	करोड़ों रुपयों में	बचत की दर*
1	2	3	4	5
1950-51	651	7.0	975	10.2
1951-52	646	6.7	1005	10.0
1952-53	417	4.5	806	8.3

(क्रमशः)

1	2	3	4	5
1953-54	530	5.3	922	8.8
1954-55	625	6.8	1054	10.9
1955-56	982	10.0	1430	13.9
1956-57	1113	9.8	1599	13.5
1957-58	834	7.5	1370	11.4
1958-59	782	6.1	1409	10.5
1959-60	1104	8.3	1765	12.6
1960-61	1327	9.3	2063	13.7
1961-62	1281	8.4	2093	13.1
1962-63	1544	9.6	2476	14.5
1963-64	1825	9.8	2826	14.4
1964-65	2023	9.2	3135	13.6
1965-66	2562	11.2	3791	15.7
1966-67	3112	11.8	4514	16.3
1967-68	2939	9.6	4497	13.9
1968-69	3011	9.5	4697	14.1
1969-70	4129	11.8	6044	16.4
1970-71	4584	12.0	6798	16.8
1971-72	5059	12.3	7461	17.1
1972-73	5064	11.2	7735	16.1
1973-74	7753	13.8	10783	18.2
1974-75	9664	14.6	13262	19.0
1975-76	11165	16.0	15248	20.6
1976-77	14052	18.7	18538	23.3
1977-78	14643	17.8	19498	22.4

* बाजार की कीमतों के आधार पर निवल घरेलू उत्पाद की प्रतिशतता।

** बाजार की कीमतों के आधार पर कुल घरेलू उत्पाद की प्रतिशतता।

टिप्पणियां :

(1) 1950-51 से 1959-60 तक के लिए आंकड़े का स्रोत : श्वेत पत्र, सी एस ओ (जनवरी, 1978)

(2) 1960-61 से 1969-70 तक के लिए आंकड़े का स्रोत : श्वेत पत्र, सी एस ओ (अक्टूबर. 1978)

(3) 1970-71 से 1976-77 के लिए आंकड़े का स्रोत : श्वेत पत्र, सी एस ओ (जनवरी 1979)

(4) 1977-78 के लिए आंकड़े का स्रोत : तुरत अनुमान, सी एस ओ (जनवरी 1979)

एक ओर हमारी अत्यधिक जनसंख्या (अपनी संभावित संवृद्धि सहित) और दूसरी ओर प्राकृतिक संसाधनों के अनुपात के फलस्वरूप होने वाली बचत की कम दर का अकाट्य तथ्य है जिसमें हमारे मानवीय कारक की अक्षमता भी शामिल है और उच्च सघन पूंजी उद्यमों अथवा भारी उद्योगों के समर्थकों ने इसी तथ्य की अवहेलना की है। यह ऐसा तथ्य है जो उन्हें गलत ठहराता है और कम प्रधान पूंजी वाले और विकेंद्रित उद्योगों को सही ठहराता है।

अंतिम विश्लेषण से यह पता चलता है कि भौतिक संसाधनों में लगाए गये श्रम से होने वाला उत्पाद ही पूंजी है, यथा—उत्पादन के एक कारक को दूसरे कारक के साथ मिलाकर उपयोग करना। यह मानव द्वारा किसी संसाधन के बिना पैदा नहीं किया जा सकता और न ही बिना कोई कार्य किए हाथ पर हाथ रखे इसका सृजन किया जा सकता है। वित्तीय संसाधन अथवा पूंजी अपने अधिकांश विभिन्न रूपों में प्राकृतिक अथवा भौतिक संसाधनों द्वारा ही निर्मित की जा सकती है। हमें इस सच्चाई का सामना करना है कि भारत में अपनी जनसंख्या की तुलना में पर्याप्त भौतिक संसाधन नहीं हैं और कम से कम हमारे राजनेताओं की औद्योगिक आकांक्षाओं की तुलना में भौतिक संसाधन पर्याप्त नहीं हैं। और, जबकि कोई राष्ट्र कुछ भी ऐसा करने के लिए वित्तीय साधन प्राप्त कर ले जिसके लिए उसके पास प्राकृतिक अथवा भौतिक संसाधन हैं तो कोई भी योजना अथवा वित्तीय जादूगरी भौतिक संसाधनों का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती (सिवाय उस स्थिति के, जैसा कि उदाहरणस्वरूप जापान ने दिखाया है, कि कार्यकारी दल की गुणवत्ता से भौतिक संसाधनों की मात्रा और गुणवत्ता की कमी पूरी की जा सकती है अथवा उससे प्रतिसादित की जा सकती है)।

प्राकृतिक संसाधनों में भूमि का सबसे अधिक महत्त्व है। हेक्टेयरों में (एक हेक्टेयर = 2.471 एकड़) प्रति व्यक्ति भूमि की उपलब्धता तालिका 94 (पृ॰ 302) में दिखाई गई है और आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण 49 देशों के कृषि-कार्यों में लगे हुए लोगों की आर्थिक दृष्टि से प्रतिशतता दिखाई गई है।

विभिन्न देशों में उपलब्ध खनिज संसाधनों की कोई भी पूरी सूची नहीं है। आगे दी गई तीन तालिकाओं में अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण खनिजों के संबंध में उनकी तुलनात्मक स्थिति दिखाई गई है। वस्तुएं तैयार करने वाले उद्योग, परिवहन आदि में सबसे अधिक काम में आने वाले खनिजों के अंतर्गत कुल मिलाकर कोयला, कच्चा माल और पैट्रोलियम माने जाते हैं। स्टील के उत्पादन के लिए कोयला आवश्यक है और अधिकांश मशीनों के तैयार करने के लिए स्टील जरूरी है। आज पैट्रोलियम से अधिकांश इंजन और मशीनें चलाई जाती हैं और पैट्रोलियम ही अनेक औद्योगिक उत्पादों का आधार है।

कोयला और पैट्रोलियम के संबंध में दिए गए आंकड़ों का संबंध संबंधित देश के कुल और प्रति व्यक्ति रिजर्व से है लेकिन कच्चे लोहे के संबंध में जो आंकड़े दिए गए हैं उनका संबंध केवल उत्पादन से है तथा रिजर्व के संबंध में आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

तालिका 94

प्रति व्यक्ति भूमि का उपयोग हेक्टेयर में (कृषि कार्य में) लगी आर्थिक रूप से कार्यशील जनसंख्या की प्रतिशतता

देश	वर्ष	कुल भूमि	भूमि का क्षेत्रफल	कृषि योग्य भूमि और स्थायी फसलों के अधीन भूमि	स्थायी चरागाह और घास-स्थल	वन-भूमि	स्तंभ (5+6+7) का जोड़	कृषि कार्य में लगी आर्थिक कार्यशील जनसंख्या की प्रतिशतता (1970)
1	2	3	4	5	6	7	8	9
1. मिस्र	1970	3.00[1]	—	0.09	—	0.00	0.09	55
2. नीदरलैंड	1970	0.28	0.26	0.07	0.10[2]	0.82	0.19	6
3. बेल्जियम	1970	0.32	—	0.09	0.08	0.06	0.23	5
4. पोर्टो रीको	1969	0.33	0.33	0.09	0.12	0.05	0.26	14
5. कोरिया गणराज्य	1969	0.32	—	0.07	0.00	0.22	0.29	58
6. जापान	1970	0.35	—	0.05	0.01[3]	0.25	0.31	21
7. जर्मनी जनवादी गणराज्य	1970	0.41	0.40	0.13	0.09	0.12	0.34	10
8. युनाइटेड किंगडम	1969	0.44	0.43	0.13	0.22[5]	0.03	0.23	3
9. श्रीलंका	1970	0.52	0.52	0.16	0.03[6]	0.23	0.42	52
10. इजरायल	1970	0.71	0.70	0.14	0.28[7]	0.04[8]	0.46	10
11. भारत	1960	0.63	—	0.32	0.03[9]	0.12[9]	0.47	68
12. चीन गणराज्य	1967	1.30	—	0.15[10]	0.24	0.10	0.49	67

(क्रमश:)

1	2	3	4	5	6	7	8	9
13. इटली	1970	0.56	0.55	0.28	0.10	0.11	0.49	21
14. जर्मनी प्रजातन्त्र गणराज्य	1970	0.63	0.62	0.27	0.09	0.17	0.54	12
15. स्विटजरलैंड	1965	0.70	0.68	0.28	0.30	0.17	0.54	7
16. पाकिस्तान	1967	1.76	—	0.52[11]	—	0.08	0.60	70
17. डेनमार्क	1970	0.87	0.86	0.54	0.06	0.10	0.70	12
18. फिलीपीन्स	1970	0.81	0.81	0.24	0.04	0.43	0.71	70
19. चैकोस्लोवाकिया	1970	0.89	0.88	0.37	0.12	0.31	0.80	16
20. पुर्तगाल	1969	1.02	1.01	0.50[10]	0.06	0.29	0.85	37
21. पोलैंड	1970	0.96	0.93	0.47	0.13	0.26	0.86	38
22. फ्रांस	1969	1.09	—	0.38	0.28	0.28	0.94	14
23. आस्ट्रिया	1970	1.13	1.13	0.23	0.30	0.43	0.96	16
24. पश्चिमी मलेशिया	1969	1.46	1.46	0.32	—	0.89	1.21	—
25. थाइलैंड	1965	1.66	1.65	0.37	—	0.88	1.25	76
26. यूनान	1966	1.53	1.50	0.42[12]	0.61	0.30	1.33	46
27. आयरलैंड	1969	2.40	2.35	0.39	1.25	0.08	1.72	27
28. ग्वाटेमाला	1964	2.53	—	0.35	0.24	1.25[14]	1.84	63
29. टर्की	1970	2.27	2.21	0.79	0.75[15]	0.52	2.06	69

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7	8	9
30. लिबियन अरब गणराज्य	1969	92.12	92.12	1.32	0.59	0.28	2.19	43
31. नार्वे	1970	8.36	7.95	0.21	0.03	2.15	2.39	13
32. स्वीडन	1970	5.59	5.12	0.38	0.05	2.83	3.26	9
33. बर्मा	1968	2.57	2.50	0.71[16]	0.01	1.72[17]	2.45	64
34. कोलंबिया	1970	5.39	4.92	0.25[10]	0.81	2.43	3.49	45
35. संयुक्त राज्य अमरीका	1964	4.87	4.78	0.92	1.35	1.54	3.81	4
36. मेक्सिको	1960	5.47	5.47	0.66[19]	2.19[19]	1.21	4.06	47
37. चिली	1965	8.69	—	0.53	1.28	2.38[20]	4.19	25
38. फिनलैंड	1970	7.31	6.62	0.59	0.02	4.22	4.83	25
39. रूस	1970	0.99[18]	—	0.96	1.54[21]	3.75[20]	6.25	32
40. दक्षिणी अफ्रीका	1960	7.67	—	0.76	5.66	0.26[20]	6.69	30
41. न्यूजीलैंड	1970	9.56	9.46	0.28	4.56	2.23[23]	7.07	12
42. वेनेजुला	1961	11.98	11.59	0.68	1.82[19]	6.30[20]	8.80	26
43. ब्राजील	1960	11.99	11.92	0.42	1.51[19]	7.30	9.23	44
44. पेरू	1967	10.37	—	0.23	2.21	7.02[20]	9.46	46
45. अर्जेन्टाइना	1968	12.02	—	1.13	6.27	2.71	10.11	15
46. पैरागुए	1967	18.83	—	0.44	4.63	9.51	14.58	53
47. कनाडा	1966	49.76	45.99	2.16	1.05[25]	22.10	25.31	8
48. आस्ट्रेलिया	1969	62.70	—	3.64[26]	36.71[27]	2.84	43.19	8

स्रोत : एफ ए ओ प्रोडक्शन इयर बुक (खाद्यान्न कृषि संगठन उत्पादन वार्षिकी), खंड 25, पृष्ठ 3 से 8 और 21 से 23.

टिप्पणियां :

1. जिसका बसे हुए और खेती किए जाने वाले क्षेत्रों का क्षेत्रफल 35,58,000 हेक्टेयर है।
2. कृषि जोतों में; 1961 की कृषि-जनगणना के अनुसार।
3. 1960
5. एक एकड़ (0.40 हेक्टेयर) से अधिक कृषि-जोतों की भूमि से संबंधित आंकड़े।
6. झाड़ियां शामिल करते हुए।
7. प्राकृतिक चरागाह के उपयुक्त भूमि।
8. वनरोपण के लिए संभावित क्षेत्र को शामिल करते हुए।
9. 30,55,10,000 हेक्टेयर के बताएं गए क्षेत्रफल से संबंधित आंकड़े।
10. जनसंख्या की तालिकाओं के मामले के सिवाय, गैर-सरकारी आंकड़े जो संयुक्त राष्ट्र के अनुमानों का संकेत करते हैं।
11. 6,74,48,000 हेक्टेयर के बताए गए क्षेत्रफल से संबंधित आंकड़े।
12. 1968।
14. कृषि जोतें।
15. 1967।
16. वर्ष में एक से अधिक फसल के लिए उपयोग में ली गई कृषि भूमि की दो बार गणना की गई है।
17. 1958 में खाद्यान्न कृषि संगठन (एफ० ए० ओ०) द्वारा तैयार की गई विश्व वन-विवरणिका से लिए गए आंकड़े।
18. श्वेत सागर (व्हाइट सी) (9,00,000 हेक्टेयर और एज़ोव सागर (37,30,000 हेक्टेयर) को शामिल करते हुए।
19. कृषि जोतों में।
20. 1963 में खाद्यान्न कृषि संगठन (एफ० ए० ओ०) द्वारा तैयार की गई विश्व वन विवरणिका से लिए गए आंकड़े।
21. रैंडियर के चरगाहों को छोड़ते हुए।
22. वॉलवीस खाड़ी के क्षेत्रफल को छोड़ते हुए।
23. बिना हिसाब लगाई हुई भूमि को छोड़ते हुए।
24. केवल महाद्वीपी (यूरोपीय) क्षेत्रक।
25. 1966 की कृषि जनगणना के आधार पर प्राकृतिक चरागाह अथवा सूखी घास के क्षेत्र, जिन पर खेती नहीं की गई है, झाड़ियों के चरागाह, चरागाह अथवा बंजर भूमि, दलदल, कच्छ और पथरीली भूमि।
26. जिसमें से 2,47,87,000 हेक्टेयर भूमि में घास उगाई जाती है।
27. चरागाह के लिए उपयोग में लाई गई जोतों से बची हुई भूमि, जो बेकार पड़ी है।

जैसा कि पिछले अध्याय में पहले ही कहा गया है कि प्राकृतिक संसाधनों की मात्रा ही नहीं बल्कि उसका प्रति व्यक्ति उत्पाद ही देश के आर्थिक विकास की मुख्य कसौटी है फिर भी साइमन कुजनैत्स के अनुसार उत्पाद ही इतना अधिक होना चाहिए कि तुलनात्मक रूप से ऐसे सफल प्रयास को प्रकट करे जो आधुनिक प्रौद्योगिकी की सहायता से आर्थिक शक्ति उत्पन्न करता है। यह प्रयास देश में उपलब्ध कृषीतर कामगारों की प्रतिशतता से भी प्रकट होता है। यदि यह प्रयास अपेक्षाकृत अधिक बढ़ा दिया जाए तो कृषीतर कार्यों में लगे हुए कामगारों की प्रतिशतता भी बढ़ जाएगी। अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि आनुपातिक रूप से देश में कृषि कामगारों की संख्या अपेक्षाकृत कम हो जाए तो इससे पता चलता है कि प्राकृतिक संसाधनों का अधिक उपयोग करने और जनता के रहन-सहन के स्तर को और ऊंचा उठाने में देश ने उसी अनुपात में सफल प्रयास किया है।

ऊपर दिए गए लक्ष्य से देखा जाए तो कुवैत, लीबिया, आयरलैंड और सऊदी अरेबिया जैसे छोटे राज्य क्षेत्रों को छोड़कर, जिनकी जनसंख्या 1977 के मध्य में क्रमशः 1187, 2636, 3198 और 7633 हजार थी, 1979 की विश्व बैंक एटलस के अनुसार विश्व में 21 देश ऐसे हैं जिनमें 3,300 डालर या इससे अधिक प्रति व्यक्ति निवल उत्पाद है। तालिका 94 से यह विदित होता है कि कृषि में लगी हुई कार्यकारी शक्ति की प्रतिशतता इन दोनों देशों में ही कुल जोड़ के एक चौथाई भाग से कुछ अधिक है। ये दोनों देश रूस और पोलैंड हैं जहां क्रमशः ये आंकड़े 32 और 38 हैं। इसलिए स्पष्ट रूप से इन दोनों देशों को आर्थिक रूप से विकसित देशों के वर्ग में शामिल नहीं किया जा सकता जबकि उनका कुल निवल उत्पाद पर्याप्त रूप से उच्च है।

शेष 20 विकसित देशों में से 2 देश अर्थात् जर्मन जनवादी गणराज्य और चेकोस्लोवाकिया 35 वर्ष पूर्व जर्मनी के ही भाग थे और उन्होंने साम्यवादी कैम्प में प्रवेश पाने से पूर्व ही महान् आर्थिक प्रगति कर ली थी। इस प्रकार केवल अट्ठारह देश ही बच जाते हैं जिनके आर्थिक विकास के तरीके का अध्ययन करना है। इन देशों में से इज़राइल और स्विटज़रलैंड को छोड़कर शेष 16 देशों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है। पहले वर्ग के अंतर्गत नीदरलैंड, बेल्जियम, जापान, जर्मनी, इंगलैंड या ब्रिटेन, इटली, डेनमार्क और फ्रांस हैं। अर्थात् वे देश हैं जहां जनसंख्या की तुलना में प्राकृतिक संसाधन बहुत ही कम हैं लेकिन इन देशों ने उपनिवेशों या अन्य क्षेत्रों पर कब्ज़ा कर लिया है और इस प्रकार उन्होंने अपने देश के संसाधनों की कमी को पूरा कर लिया है।

तालिका 95

कुल और प्रति व्यक्ति कोयले का रिजर्व

देश	कोयला		ब्राउन कोयला और भूरा कोयला		दस लाख टन	कुल कोयला	
	वर्ष	कुल दस लाख टनों में	वर्ष	कुल दस लाख टनों में	स्तंभ3+5	स्तंभ 2 के वर्ष के लिए प्रति व्यक्ति	जनसंख्या के आधार वर्ष 1973 के लिए
1	2	3	4	5	6	7	8
1. आस्ट्रिया	1972	4	1972	173	177	23.63	23.51
2. बेल्जियम	1973	253	—	—	253	25.93	25.93
3. चेकोस्लोवाकिया	1966	11573	1966[2]	9857	21430	1540.92	1471.84
4. डेनमार्क	1970	—	—	20	20	4.06	3.98
5. फिनलैंड	—	—	—	—	—	—	—
6. फ्रांस	—	—	—	—	—	—	—
7. जर्मनी जनवादी गणराज्य	1971	230304	1972[6]	55851	286155	4668.87	4617.64
8. जर्मनी प्रजातंत्रीय गणराज्य	1956[2]	200	1966[2]	30000	30200	[1]	1778.56
9. यूनान	—	—	1961[2]	—	1575		176.37
10. आयरलैंड	1967[2]	48	—	—	48	16.55	15.84
11. इटली	1973[2]	1	1972	110	111	—	2.02
12. नीदरलैंड	1955-73	3705	—	—	3705	—	275.67

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7	8
13. नार्वे	1972	151	—	—	152	38.68	38.38
14. पुर्तगाल	—	—	—	—	—	—	—
15. स्वीडन	1967[2]	90	—	—	90	11.44	11.06
16. स्विटजरलैंड	—	—	—	—	—	—	—
17. यूनाइटेड किंगडम	1973	162814	—	—	162814	2911.03	2911.03
18. रूस	1971	3993357	1971	1720324	5713681	23313.53	22877.60
19. कनाडा	1970-73	97041	1970	11736	108777	5102.11	4915.36
20. ग्वाटेमाला	—	—	—	—	—	—	—
21. मैक्सिको	1973	12000	—	—	12000	213.68	213.68
22. पोर्टोरीको	—	—	—	—	—	—	—
23. अमरीका	1972	2286763	1972	638746	2924509	14003.59	13899.76
24. अर्जेन्टीना	1972	555	—	—	555	22.76	22.45
25. ब्राजील	1972	—	—	—	—	—	—
26. चिली	1969-72	3945	1966[2]	5365	9310	972.83	910.07
27. कोलंबिया	1971	4100[13]	1971	—	4100	181.16	176.65
28. पैरागुए	—	—	—	—	—	—	—
29. पेरू	1966[2]	2334	1966	4630	6964	579.85	467.07
30. वेनेज्यूला	1955-72	845	1953	26	871	—	77.22
31. बर्मा	1960[2]	21	—	—	21	—	0.71
32. श्रीलंका	—	—	—	—	—	—	—

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7	8
33. भारत	1972	80935	1972	2026	82979	147.53	144.51
34. इजराइल	—	—	—	—	—	—	—
35. जापान	1973	7443	1973	1185	8628	79.63	79.63
36. कोरिया गणराज्य	1974	1450	—	—	1450	43.34	44.06
37. पश्चिमी मलेशिया	—	—	—	—	—	—	—
38. पाकिस्तान	1966	190	1967[2]	280	470	9.03[3]	—
39. फिलिपीन्स	—	—	—	—	—	—	—
40. थाइलैंड	—	—	—	—	—	—	—
41. तुर्की	1972	1291	1972	5991	7282	200.33	194.91
42. चीन जनवादी गणराज्य	1913	1011000[1]	1956[2]	700	1011700	1	1
43. मिस्र	1965[2]	—	—	—	—	—	—
44. लीबिया अरब गणराज्य	—	—	—	—	—	—	—
45. दक्षिणी अफ्रीका	1969	44339	—	—	44339	2026.56	1823.15
46. आस्ट्रेलिया	1972	1118658	1973	86702	198567	15321.53	15123.15
47. न्यूजीलैंड	1969	678	1969	369	1074	387.73	362.84
48. पोलैंड	1972[2]	45741	1967[2]	14862	60603	1897.40	1816.64

स्रोत : (i) 'स्टैटिस्टिकल इयर बुक', यू॰ एन॰ ओ॰, 1974.
(ii) 'डैमोग्राफिक इयर बुक', 1974.

टिप्पणियां :

1. इस प्रकाशन में चीन के संबंध में जो सूचना दी गई है उसका संबंध वर्ष 1913 से है, अतः प्रति व्यक्ति का हिसाब नहीं लगाया गया है और जर्मन जनवादी गणराज्य के संबंध में भी 1956 की सूचना दी गई है।
2. स्रोत : ऊर्जा संसाधनों के विश्व विद्युत शक्ति सम्मेलन सर्वेक्षण, 1968।
3. यदि यह मान लें कि पाकिस्तान में उतना कोयला है जितने कोयले का 1974 में पाकिस्तान की जनसंख्या में वितरण किया गया है और यदि बंगला देश को शामिल किया जाए तो यह आंकड़ा 3.3 होता है।
6. लिगनाइट और 'पंचकोहिते'।
7. जहां कहीं भी वापिस किए जाने वाले रिजर्व के आंकड़े उपलब्ध नहीं थे वहां उन मूल्यों को काम में लाया गया है जो 'उस स्थान के रिजर्वों का' 50 प्रतिशत है।
8. इस उत्पादन में ब्राउन कोयला शामिल नहीं किया गया है, जिसे कोयले के आंकड़ों में शामिल किया जाता है।
13. संसाधन अनुमान रूढ़िवादी हैं। ज्ञात निक्षेपों की संख्या के आंकड़े अपूर्ण हैं और कोलंबिया में उनमें से अधिकांश निक्षेपों की खोज नहीं की गई है।

तालिका 96

कुल और प्रति व्यक्ति कच्चे लोहे का उत्पादन, 1973

देश	कुल हजारों टनों में	प्रति व्यक्ति (टन, 000)
1	2	3
1. जापान (1)	588	0.01
2. कोलंबिया	439	0.02
3. कोरिया गणराज्य	233	0.02
4. यूनाइटेड किंगडम	1926	0.03
5. फिलीपीन्स	1414	0.04
6. तुर्की	1455	0.04
7. भारत	22175	0.04
8. जर्मन जनवादी गणराज्य	1620	0.05
9. मेक्सिको	3113	0.06
10. यूनान	792	0.09
11. फिनलैंड	583	0.13
12. आस्ट्रिया	1417	0.19
13. अमरीका (3)	53236	0.25
14. दक्षिणी अफ्रीका	6910	0.29
15. फ्रांस	15671	0.30
16. पेरू	5648 (4)	0.38

(क्रमशः)

1	2	3
17. ब्राजील	39380 (3)	0.39
18. रूस	118151	0.47
19. चिली	5829	0.57
20. नार्वे	2540	0.64
21. जर्मन प्रजातांत्रिक गणराज्य	13	0.77
22. वेनेज्यूला	14179	1.26
23. कनाडा (2)	30744	1.39
24. स्वीडन	22071	2.71
25. आस्ट्रेलिया (5)	47204	3.59
26. न्यूजीलड	47204	3.59
27. मिस्र	320	8.98
28. पोलैंड	432	12.95
29. चेकोस्लोवाकिया	462	31.73
30. थाइलैंड	21	0.00
31. बेल्जियम	35	0.00
32. डेनमार्क	583	0.00
33. इटली	220	0.00

स्रोत : 'स्टैटिस्टिकल इयर बुक', 1974.

टिप्पणियां :

1. लोहे का चूरा और पाइराइट में लोहे के तत्त्व को शामिल करते हुए।
2. खदानों से जहाज द्वारा माल की ढुलाई।
3. उपयोग में आने वाले कच्चे लोहे की जहाज द्वारा ढुलाई जिसमें चुम्बकीय लोहा छोड़ दिया गया है जो 5 प्रतिशत या इससे अधिक है।
4. खदानों का अमरीकी ब्यूरो।
5. 1969 से प्रारंभ करते हुए, प्रारंभ किए गए वर्ष के 30 जून के अंत तक 12 महीने।

तालिका 97

1971 में कुल और प्रति व्यक्ति सुरक्षित कच्चा पैट्रोलियम

देश	कुल (लाखों टनों में)	प्रति व्यक्ति लाखों टनों में (0.00)
1	2	3
1. जापान (4)	4	0.04
2. पाकिस्तान (4)	4	0.06
3. पोलैंड (6)	6	0.16
4. बर्मा (4)	6	0.20

(क्रमश:)

1	2	3
5. चेकोस्लोवाकिया	3	0.21
6. भारत	118	0.21
7. फ्रांस	12	0.23
8. तुर्की	20	0.53
9. इटली	35	0.64
10. ब्राजील (4)	101	1.00
11. जर्मन जनवादी गणराज्य	75	1.21
12. इंगलैंड	1490	2.66
13. चिली (4)	29	2.84
14. नीदरलैंड	39	2.90
15. आस्ट्रिया (4) (5)	25	3.32
16. पेरू (4)	74	4.96
17. न्यूजीलैंड (13) (5)	16	5.40
18. आस्ट्रेलिया (4) (5)	214	5.64
19. डेनमार्क	33	6.57
20. मैक्सिको	399	7.35
21. मिस्र	288	8.09
22. कोलम्बिया (4)	222	9.57
23. अर्जेन्टीना (4)	324	13.34
24. अमरीका (4)	4770	22.67
25. रूस (13)	6464	25.88
26. कनाडा (4, 6)	1247	56.38
27. नार्वे	605	152.74
28. वेनेज्यूला (4)	1978	175.15
29. लीबिया अरब गणराज्य	3066	1362.67

स्रोत : 'स्टैटिस्टिकल इयर बुक', 1974.

टिप्पणियां :

4. क्षमता अथवा आयतन की यूनिटों में मूल उत्पादन-आंकड़े।
5. प्रारंभ किए गए वर्ष के 30 जून के अंत तक 12 महीने।
6. कच्चा पैंट्रोलियम।
13. उत्पादन आंकड़े जिनमें गैस कंडेनसैट्स शामिल हैं।

18वीं और 19वीं शताब्दी में जापान को छोड़कर इन देशों में आविष्कारों के युग का विकास अथवा औद्योगिक क्रांति की सफलता हुई। ये सभी देश पश्चिमी यूरोप में स्थित हैं इसका मुख्य कारण यूरोपीय जातियों की आविष्कार संबंधी प्रतिभा का कुछ विशेष और असीमित विस्फोट ही नहीं था अपितु पूंजी की पर्याप्त निधि का एकत्रीकरण भी था। उनकी प्रगति के साधन या कौशलों और मशीनरी के रूप में औद्योगिकीकरण का संबंध सीधे ही उनके अधीन सीमा क्षेत्रों के वृद्ध मानव और भौतिक संसाधनों के शोषण के परिणामस्वरूप उत्पादित बृहद् बेशी सामान से है। खर्चीले औजार अथवा प्रक्रियाओं के चलाने में अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है और किसी भी व्यक्ति के लिए, चाहे वह कितना ही उद्यमशील क्यों न हो, यह प्रयत्न करना तब तक सार्थक नहीं है जब तक कि उसके पास पर्याप्त पूंजी न हो। और उसकी पहुंच बड़े-बड़े बाजारों तक न हो। विश्व में चारों तरफ फैले हुए यूरोपीय देशों के उपनिवेशों और अधीन क्षेत्रों ने पूंजी और बाजारों की आपूर्ति की है।

जहां तक इंगलैंड का प्रश्न है वहां भारत ने एक बड़ी भूमिका अदा की है: यद्यपि कपास भारत के मैदानों में उगाई जाती थी लेकिन उसके कपड़े इंगलैंड में बुने जाते थे। ब्रुक्स एडम्स ने कहा है:

> "भारतीय खजाने के अंतर्वाह से इंगलैंड की नकद पूंजी में काफी वृद्धि हुई है जिससे न केवल ऊर्जा के भंडार में ही वृद्धि हुई अपितु इससे उसकी गति की नम्यता और तीव्रता में भी काफी वृद्धि हुई है। प्लासी की लड़ाई के बाद शीघ्र ही बंगाल की लूटपाट का मामला लंदन में आ गया और इसका प्रभाव भी तत्काल ही हुआ; क्योंकि सभी अधिकारी इस बात पर सहमत हैं कि औद्योगिक क्रांति जो वर्ष 1760 से प्रारंभ हुई है, उसने समस्त पूर्ववर्ती समय से 19वीं शताब्दी को अलग कर दिया है।"[4]

यह तथ्य सर्वविदित है कि ब्रिटेन में प्रारंभिक औद्योगिकीकरण गुलाम व्यापार का भी बहुत ऋणी है। विनिर्मित वस्तुओं का विनिमय लाभ उठाकर अफ्रीका के गुलामों से कर लिया जाता था; गुलामों का विनिमय लाभ उठाकर अमरीका के कच्चे माल से किया जाता था; कच्चा माल लाभ कमाने के लिए पुनः विनिर्माण के लिए ब्रिटेन को वापिस कर दिया जाता था ताकि विश्व के अन्य देशों में उनकी बिक्री हो सके अथवा उनका विनिमय हो सके। नेलसन जैसे व्यक्ति ने भी यह कहा कि ब्रिटिश व्यापारिक जहाज गुलामों के व्यापार के बिना चलाए नहीं जा सकते।[5]

4. द लॉं ऑफ सिविलाइजेशन एण्ड डिके, पृष्ठ 259-60। जिसका उल्लेख आर० पी० दत्त ने 'इंडिया टुडे' 1940, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस बंबई, पृष्ठ 107-8 में किया गया है।
5. 1772 में लार्ड मैंसफील्ड ने निर्णय दिया कि आम कानून गुलामों की स्थिति को मान्यता नहीं देता अतः ब्रिटिश द्वीप-समूह में मालिकों द्वारा लाए गए 15,000 नीग्रों को एक साथ मुक्त कर दिया गया। संसद ने 1807 में ही कानून द्वारा देश में आने वाले गुलामों का निषेध किया और 1833 में संसद में ब्रिटिश उपनिवेशों में गुलाम व्यापार पर रोक लगाने पर सहमति हुई (देखिए 'कैपीटलिज्म एण्ड स्लेवरी', यूनिवर्सिटी आफ़ नार्थ कैरोलीना प्रेस, 1944, पृष्ठ 52)।

एरिक विलियम ने कहा है कि "त्रिकोण व्यापार ने ब्रिटिश उद्योग को तिहरा प्रोत्साहन दिया है। ब्रिटेन में विनिर्मित वस्तुओं से नीग्रो खरीदे गए : उन्हें बागानों में लगाया गया; उन्होंने गन्ना, कपास, नील, शीरा और अन्य उष्णकटिबंधीय उत्पाद पैदा किए जिनके प्रक्रमण से इंगलैंड में नए उद्योगों ने जन्म लिया; जबकि बागानों में नीग्रों और उनके मालिकों के अनुरक्षण से ब्रिटिश उद्योग के लिए एक अन्य बाजार उपलब्ध हुआ जिसमें न्यू इंगलैंड में कृषि और न्यूफाउंडलैंड में मछलीपालन उल्लेखनीय हैं। 1750 तक इंगलैंड में शायद ही कोई व्यापारिक या विनिर्माता नगर हो जो इस त्रिकोण से या प्रत्यक्ष औपनिवेशिक व्यापार से किसी न किसी प्रकार न जुड़ा हो। इन व्यापारों से जो लाभ हुआ वह इंगलैंड में पूंजी-संचयन के उन स्रोतों में से मुख्य था जिनसे औद्योगिक क्रांति को वित्तपोषित किया गया।"

उन्नत देशों के दूसरे वर्ग में आस्ट्रिया, नार्वे, स्वीडन, अमरीका, न्यूजीलैंड, फिनलैंड, कनाडा और आस्ट्रेलिया आदि देश सम्मिलित हैं अर्थात् वे देश सम्मिलित हैं जो जनसंख्या की तुलना में उच्च भौतिक संसाधन-संपन्न थे। (और इसलिए इन्हें अन्य व्यक्तियों की भूमि को हड़पने की न तो कोई आवश्यकता थी अथवा न कोई बहाना था) उनके अपने संसाधन इतने अधिक थे जिनसे न केवल इतना कच्चा माल पैदा हुआ जिससे उनके कारखानों की आवश्यकताओं को पूरा किया गया बल्कि इतनी अधिक मात्रा में अन्न भी पैदा हुआ जो ग्रामीण आवश्यकताओं से भी अधिक था ताकि वह उद्योग में लगे हुए कामगारों के उपयोग में आ सके और वे लोग भी इस अन्न का उपयोग कर सकें जो पूंजी निर्माण में लगे हुए थे। इस अतिरिक्त उत्पादन से ग्रामीण जनता की आय में वृद्धि हुई जिसकी प्रतिशतता प्रारंभ में कुल आय में उच्च थी ताकि वे औद्योगिक वस्तुएं खरीद सकें। प्रथम वर्ग के रूप में नगरीय शक्ति के लाभ के लिए राजनीतिक प्राधिकार के उपयोग करने के संबंध में ब्रिटेन का मामला विशेष है और यही स्थिति अमरीका के मामले में भी है। दूसरे वर्ग के रूप में इन देशों ने अपने देश के लाभ के संबंध में आर्थिक प्रभुत्व का किस प्रकार उपयोग किया है यह भी एक विचित्र स्थिति है। रोनाल्ड सीगल ने कहा है :

> "उदाहरण के लिए, अमरीका अपने देश की विनिर्मित वस्तुओं का लाभ उठाकर लाइबेरिया की रबर से विनिमय कर लेता है और इस रबर को लाभकारी ढंग से अमरीकी कम्पनियों के कारखानों में वस्तुएं बना लेता है तथा इसके बाद इन विनिर्मित वस्तुओं का विनिमय लाभ उठाकर बोलेविया की चाय अथवा ब्राजील की कॉफ़ी से कर लेता है।"[6]

स्विटजरलैंड और इज़राइल अलग वर्ग के देश हैं; न तो उनके पास प्रचुर प्राकृतिक संसाधन हैं, न ही भूमि और न ही श्रमशक्ति है। स्विटजरलैंड की अर्थव्यवस्था को ऐसी जल विद्युत शक्ति से बहुत लाभ हुआ है जो यहां काफी मात्रा में विद्यमान है। इस

6. 'द स्ट्रगल अगेंस्ट हिस्ट्री', वेडनफैल्ड एंड नीकलसन, 5 विसले स्ट्रीट, लंदन; डब्ल्यू० आई०, पृष्ठ 47.

देश ने तटस्थ नीतियों के कारण अपने बैंकों में अन्य देशों की जमा राशि का उपयोग करके अपनी अर्थव्यवस्था को मजबूत किया है। इजरायल की अर्थव्यवस्था ने उस सभी तकनीकी और वित्तीय सहायता से लाभ उठाया है जो उसे यूरोप और अमरीका के समस्त यहूदी संप्रदाय से अति उदार रूप में प्राप्त हुई है।

रूस सहित कोई भी अन्य देश ऐसा नहीं माना जा सकता जो पूर्णरूपेण विकसित अथवा आर्थिक रूप से उन्नत समझा जाए। दक्षिणी कोरिया, पाकिस्तान, श्रीलंका और भारत को छोड़कर अन्य सभी देशों में उच्च भूमि अथवा प्राकृतिक संसाधनों के अनुपात में श्रमिक शक्ति है; फिर भी वे पूर्ण विकसित या आर्थिक रूप से विकसित स्तर तक नहीं पहुंच पाए हैं। न तो वे रहन-सहन के स्तर की उच्चता तक पहुंच पाए हैं और न वे अपने प्राकृतिक संसाधनों के अनुपात में अपनी प्रति व्यक्ति आय को ही संगत ठहरा पाए हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि अन्ततोगत्वा विकसित देशों में मानवीय कारक की गुणवत्ता की तुलना में इन देशों के मानवीय कारक की गुणवत्ता में कमी है। (जिसने, इसके साथ ही साथ, इनमें से कुछेक को विदेशी क्षेत्र प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया)। रूस के मामले में एक अन्य कारण भी है, अर्थात् उसकी कृषि से कामगारों की मुक्ति में अवरोध हो जाता है क्योंकि उन सामूहिक फार्मों की उत्पादकता कम होती है जिनमें कम्युनिस्ट किसानों को उनकी इच्छा के विरुद्ध काम करने पर बाध्य किया जाता है।

ऊपर बताए गए चार देश संसाधनों के अभाव और अपनी जनता की अयोग्यता से पीड़ित रहते हैं। यद्यपि दक्षिणी कोरिया अभी तक उन्नत देश नहीं हो पाया है लेकिन इस देश ने हाल ही में अच्छी प्रगति की है।

हमें यहां भारत की प्रगति के संबंध में ही कहना है। इस दृष्टि से भारत को, नीदरलैंड और अन्य देश (जो प्रथम वर्ग में शामिल किए गए हैं) जैसे उन्नत देशों को उपलब्ध अवसरों की तुलना में, अवसर प्राप्त नहीं हैं। इस मामले में नीतिशास्त्र को अलग भी कर दिया जाए तो अब कोई भी उपनिवेश अथवा आश्रित देश नहीं रह गया है जिसका शोषण किया जाए। अब हम विश्व-इतिहास के उस बिन्दु पर पहुंच गए हैं जहां जनता और भूमि के संसाधनों का शोषण नहीं किया जा सकता, चाहे हम इसके लिए कितना ही प्रयत्न क्यों न करें। सभी कम विकसित देश भी अपनी कमियों को दूर करने की कोशिश कर रहे हैं और शीघ्र ही बहुत कम या कोई भी ऐसा बाहर का बाजार नहीं होगा जहां हम अपनी औद्योगिक वस्तुओं की खपत करा सकें अथवा बेच सकें।

ऊपर बताए गए दूसरे वर्ग में देशों द्वारा एक मार्ग अपनाया गया है अर्थात् अपने संसाधनों के आधार पर भारी और बड़े पैमाने के पूंजी प्रधान उद्योग का निर्माण, और शायद भारत के लिए यह मार्ग खुला होता यदि भारत ने गंभीर तरीके से आधुनिक अर्थ में औद्योगिकीकरण शुरू किया होता अथवा होने दिया होता। जब ब्रिटिश शासन सत्ता ने 1857 में भारत में अपना सीधा नियंत्रण ही कर लिया था और उस समय उपमहाद्वीप की कुल जनसंख्या 18 करोड़ से अधिक नहीं थी, मृत्यु दर अधिक थी और

प्रतिवर्ष जनसंख्या की वृद्धि पर आधा प्रतिशत से कम ही थी और आज की तुलना में उद्योगों में भी अधिक पूंजी लगाने की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन आज निश्चित रूप से ही ऐसी स्थिति नहीं रही है।

इससे पूर्व ही जो तीन तालिकाएं दी गई हैं उनके अध्ययन से यह विदित होता है कि भारत प्रकृति से उतना संपन्न नहीं है जितना कि हममें से कुछ लोग विश्वास करते हैं : आर्थिक क्षमता अथवा प्राकृतिक संसाधनों की दृष्टि से भारत का अधिकांश देशों की तुलना में बहुत ही निम्न स्थान है। इसलिए हम न तो अधिक पूंजी बचा पाते हैं और न ही अधिक पूंजी एकत्र कर पाते हैं जिसकी भारी उद्योग के लिए आवश्यकता होती है और न भारी उद्योग के पास इतने रोजगार हैं कि उस अधिक जनसंख्या को खपा सकें जो आज भारत में है।

फिर वह कौन-सा रास्ता अपनाया जाए जिससे हम उस अर्थव्यवस्था को विकसित कर सकें जो आज हमें घेरे हुए हैं ? क्या हम उन तरीकों को अपनाएं जो रूस ने अपनाए हैं—यानी किसानों को उनकी आजादी छीनकर दबा दिया जाए अर्थात् अपने ही लोगों की राजनीतिक और आर्थिक दासता से ऐसा किया जाए ?

वास्तव में कम्युनिस्ट यह दावा करते हैं कि उनके पास ही वह कुंजी है जो घनी आबादी वाले और कम विकसित देशों को भौतिक रूप से संपन्न करने का फाटक खोल सकती है। वे अपने इस दावे की पुष्टि में रूस का उदाहरण देते हैं जहां उनके मतानुसार 1917 में पूर्णतया कम विकसित स्थिति थी लेकिन आज वहां जीवन के अमरीकी रहन-सहन के स्तर से कहीं कुछ कम नहीं है। गत 60 वर्षों में जो रूस कभी परास्त और पिछड़ा देश था, जहां गृहयुद्ध हुआ और जिस देश ने विश्वयुद्ध का भी सामना किया, वह देश आज विश्व के सबसे अधिक ताकतवर दो देशों में से एक है। ज़ोरदार शब्दों में यह कहा जाता है कि रूस की उन्नति इस नवीन सिद्धांत पर आधारित है।

फिर भी ऊपर दिया गया दावा निराधार है क्योंकि रूस कभी भी अधिक जनसंख्या वाला देश नहीं रहा। 1917 की क्रांति के समय भी यह देश औद्योगिक रूप से पिछड़ा हुआ देश नहीं था। कुछ भी क्यों न हो, यह देश इतना पिछड़ा हुआ नहीं था जितना कि कम्युनिस्ट प्रचारक हमें विश्वास दिलाते हैं। ब्रिटिश और फ्रेंच पूंजी और प्रौद्योगिकी ने पहले ही ज़ार अर्थव्यवस्था में औद्योगिक प्रसार के लिए अपने कार्य-क्षेत्र बना लिए थे।

डब्ल्यू० वॉयटिस्की ने कहा है :

> "प्रगति के मार्ग की खोज में रत भारतीय बुद्धिजीवियों ने रूस के पाठ का गलत अर्थ लगाया है। इनमें से कुछेक बुद्धिजीवियों का विश्वास है कि रूस के साम्यवादियों ने बलपूर्वक औद्योगिकीकरण से आर्थिक प्रगति में एक नई रोशनी प्रज्वलित की है : क्या रूस उतना गरीब नहीं था जितना कि भारत था, जब लेनिन ने शासन सत्ता संभाली थी ? और क्या रूस अमरीका की बराबरी नहीं कर रहा है ?

"वास्तव में द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारंभ होने से पूर्व यूरोपीय रूस में प्रति व्यक्ति आय 103 रूबल तक थी, वहां प्रति व्यक्ति क्रय शक्ति 100 डालर से अधिक थी और शायद वर्तमान कीमतों के आधार पर यह क्रय शक्ति 150 डालर से 200 डालर तक रही। यह क्रय शक्ति 20वीं शताब्दी के 8वें दशक में भारत में दूसरी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निर्धारित लक्ष्य से 50 से 100 प्रतिशत अधिक थी।

"ज़ार के अधीन रूस पश्चिमी पड़ोसी देशों की तुलना में पिछड़ा हुआ देश था लेकिन रूस में यूरोप के अन्य देशों की तुलना में सबसे बड़ी और सबसे अधिक कार्यकुशल सूती कपड़े के कारखाने थे। रूस के पास युद्धपोत बनाने के लिए शिपयार्ड थे और उसके पास पनडुब्बियां भी थीं। रूस ने अमरीका की तुलना में लोकोमोटिव तैयार करने में दूसरा स्थान प्राप्त किया था और उसके पास विश्व के सबसे अधिक बड़े स्टील के पुल थे जिन्हें रूस के इंजीनियरों ने अपने देश के पदार्थों से बनाया था। रूस के अधिकांश भाग में निरक्षरता शीघ्र ही समाप्त हो रही थी। इस देश में उन्नत तकनीकी अध्ययनों के लिए कई प्रथम श्रेणी के संस्थान थे। ज़ार की सरकार प्रतिक्रियावादी, भ्रष्ट और कमज़ोर थी जिसे जनता से कोई सम्मान नहीं मिलता था। लेकिन ज़ार की सत्ता को समाप्त करके जनतांत्रिक सरकार का उदय हुआ। कम्युनिस्ट को विरासत में इतनी अधिक आर्थिक शक्ति मिल गई थी जो भारत को औपनिवेशिक राजसत्ता के समाप्त होने के बाद नहीं मिल पायी थी।"[7]

इस प्रकार रूस में स्वतः बढ़ने वाली अर्थव्यवस्था की नींव पहले ही रखी जा चुकी थी जब बोलशेविक क्रांति ने 1917 में इस देश को घेर लिया। अमरीका के समान रूस को भी बृहद् आर्थिक संसाधनों का लाभ प्राप्त था। बृहद् संसाधन जनसंख्या की पूर्णता से और तुलनात्मक रूप से पर्याप्त थे जिसके कारण विश्व के अधिकांश राष्ट्रों की तुलना में रूस को तेज़ी से प्रगति करने के लिए अधिक शक्ति प्राप्त हुई थी।

फिर भी उन बड़ी आर्थिक इकाइयों के प्रति अपने विश्वास से प्रेरित होकर उन्होंने 'सबसे बड़ी' और 'सबसे अधुनातन' कारखाने बनाने शुरू किए जिनको साम्यवाद स्वीकार करता है और उनकी यह इच्छा है कि यथासंभव कम से कम समय में पश्चिम को पीछे छोड़ दिया जाए, इनमें से कुछ कारखाने इतने विशाल थे कि वे 8 या 10 वर्ष बाद भी पूरे न हो सके। इस कार्य के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता हुई और यह पूंजी बंध गई और इस प्रकार सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए समयांतराल में खो गई। इन बड़े-बड़े औद्योगिक कारखानों को स्थापित करने के लिए पूंजी प्राप्त करने के उद्देश्य से सामूहिक फार्म स्थापित किए गए और इस उद्देश्य की दृष्टि से जनसमुदाय को काफ़ी कष्ट उठाना पड़ा जबकि यह कष्ट सरलता से दूर किया जा सकता था। इन सामूहिक फार्मों के उत्पाद को बड़े-बड़े शहरों में बेचा जाना था अथवा बाहरी विश्व में

7. 'इंडिया : द अवेकनिंग जाइन्ट', हारपर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क, 1957, पृष्ठ 190-91.

बेचा जाना था और यह बिक्री ऊंची दरों पर की जानी थी। इससे प्राप्त लाभ को भारी और बड़े पैमाने के उद्योगों के लिए साज-सामान खरीदने के लिए लगाना था। करोड़ों स्वतंत्र किसानों की अर्थव्यवस्था से यह आवश्यक माल-सुपुर्दगी नहीं की जा सकी और राज्य में उत्पादन को 'अतिरिक्त' उत्पादन का गलत नाम दिया गया।

फिर भी कृषि में बड़ी पूंजी-लागत के बावजूद, सामूहिक खेती से उत्पादकता में कमी आई। इसके परिणामस्वरूप श्रमिक दल का काफ़ी भाग भूमि पर काम करने के लिए लगाया गया और जो रूस प्रथम विश्वयुद्ध से पहलें प्रतिवर्ष 100 लाख टन से अधिक गेहूं का निर्यात करता था उसे हाल ही में पश्चिमी यूरोप से दूध और अन्न की बनी वस्तुएं तथा कनाडा, अमरीका और आस्ट्रेलिया से अनाज का आयात करना पड़ रहा है।

फिर भी ऐसा लगता है कि रूस के आधार पर अर्थव्यवस्था भारत में भी कुछेक कांग्रेस नेताओं के लिए आदर्श बन गई थी। इस आदर्श की स्वीकृति के रूप में जनवरी के दूसरे सप्ताह में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित किया और उसके बाद 28 मार्च, 1959 को प्रधान मंत्री नेहरू ने लोक सभा में यह घोषणा की कि "अधिकतम सीमाएं, सहकारी संस्थाएं और स्टेट ट्रेडिंग (अनाज के लिए) आदि सभी एक दूसरे से संबंधित हैं और इन सभी को एक तस्वीर के रूप में देखना चाहिए।" वास्तव में एक विचार की दृष्टि से हमारी गति अपेक्षाकृत अधिक है और यह विचार हमारे इरादों से संबंधित है। रूस में सहकारी समितियां—जिसका कि दूसरा नाम सामूहिक कृषि है—उसी समय बनाई गई जब कुलक पूर्णतया समाप्त हो चुके थे। ये क्रांति के बारह वर्षों बाद बनाई गईं और ये भूमि के वितरण तथा स्टेट ट्रेडिंग के लगाए जाने के फलस्वरूप बनाई गई थीं। हमने 1959 और उसके बाद 1972 में इस स्थिति को देखा अथवा यह निर्णय किया कि एक बार में ही सभी अवस्थाओं को पूरा कर लिया जाए। यदि ये इरादे कार्यरूप में परिणत न हो सके तो इसका कारण संविधान है। इसके लिए विरोधी दल के नेता दोषी नहीं ठहराए जा सकते। कांग्रेस के नेतृत्व अथवा प्रधान-मंत्री नेहरू और उनकी पुत्री को भी दोषी नहीं ठहराया जा सकता जिन्होंने गत वर्षों में शासन सत्ता का भार संभाला है।

लेखक ने यहां रूस की सैन्यशक्ति पर विचार नहीं किया है। यद्यपि यह दावा है कि साम्यवाद अद्भुत तरीके से देश में सैन्यशक्ति बढ़ा देता है और यह बात तर्क-संगत नहीं है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व और उसके दौरान गैर-साम्यवादी जर्मनी तुलनात्मक रूप से बहुत छोटा देश था और विश्व में सबसे अधिक सैन्यशक्ति वाला अकेला देश था। रूस में जर्मनी की तुलना में लगभग तीन गुनी मानव और प्राकृतिक संसाधनों की शक्ति थी और 1917 की क्रांति के बाद दो दशाब्दियों से अधिक समय बीत गया जब 1941 में जर्मनी ने उस पर आक्रमण किया था। फिर भी रूस में अधिक भूमि होने के बावजूद रूस को बहुत थोड़े समय में ही हरा दिया जाता यदि जर्मनी की सेनाओं की मुठभेड़ इंगलैंड, अमरीका की सेनाओं के साथ न होती और इसके अलावा यदि टैंक और वायुयान जैसी सैन्य सज्जा के रूप में अमरीका भूमि-पट्टे के कार्यक्रमों

के अंतर्गत उदारतापूर्वक सहायता न करता। इसके अलावा साम्यवाद ने कोई भी शक्ति उपलब्ध नहीं की। इसी शक्ति के आधार पर रूस मास्को और स्टैलिनग्रेड से जर्मनी की फौजों को धकेल बाहर करने में सक्षम हो सका।

जहां तक आर्थिक संवृद्धि का संबंध है इसके लिए सांख्यिकीय साक्ष्य है और यह स्पष्ट है कि 1955 में अमरीका और रूस की आर्थिक स्थितियों में जो अन्तर था वैसा ही अंतर 1913 में भी था। साम्यवाद इस अंतर को पूरा करने के लिए कुछ नहीं कर सका। श्री वारन न्यूटर ने "सोवियत इकनॉमिक डेवलपमेंट : सम ऑबजरवेशन्स ऑन सोवियत इंडस्ट्रियल ग्रोथ" नामक एक लेख लिखा है। यह लेख मई 1957 के 'अमरीकन इकनॉमिक रिव्यू' में प्रकाशित हुआ है। इस लेख में एक चार्ट दिया गया है जो 1880-1955 के मध्य रूस की जनसंख्या में से प्रति व्यक्ति औद्योगिक उत्पादन दिखाता है और 1870-1955 के मध्य अमरीकी जनसंख्या का प्रति व्यक्ति औद्योगिक उत्पादन प्रकट करता है। इस चार्ट में वर्ष 1913 को 100 को आधार माना गया है और इसमें 37 उद्योग शामिल किए गए हैं। 1955 में मध्यम पश्चता, संवृद्धि के 56 वर्ष का द्योतक है और कुल सोवियत वक्र अमरीका वक्र की ऐसी राशि से नीचे है जो समय पश्चता के अर्थों में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं दिखाती। इससे यह बात उभरती है कि 1955 में तुलनात्मक स्थिति आश्चर्यजनक ढंग से वही रही जो 1913 में थी। ये पश्चताएं एक जैसी नहीं हैं यद्यपि कुछ उद्योगों में वे 25 वर्षों से कम हैं और अन्य उद्योगों में 50 वर्षों से ऊपर हैं। यदि एक नया सर्वेक्षण किया जाए तो श्री न्यूटर का यह निष्कर्ष ठीक होगा कि 1955 में सोवियत उद्योग उत्पादन की दृष्टि से अमरीकी उद्योग की अपेक्षा कई दशाब्दियों पीछे था और यह स्थिति आज भी सही पायी जाएगी। हाल ही के वर्षों में कुल उत्पादन में वृद्धि हुई है तथापि प्रति व्यक्ति उत्पादन में कमी हुई है।

एनगस मैडीसन के मतानुसार "अमरीका (1968) में प्रति व्यक्ति उत्पादन रूस की अपेक्षा दूना था और प्रति कामगार उत्पादकता भी कहीं अधिक थी तथा प्रति व्यक्ति उपभोग भी कहीं अधिक था।"[8] वास्तव में पश्चिम के अधिकांश जनतांत्रिक देशों में रहन-सहन का स्तर रूस और उसके पिछलग्गू देशों के रहन-सहन के स्तर की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा है।

अमरीकी कांग्रेस की संयुक्त आर्थिक समिति द्वारा किए गए सोवियत अर्थ-व्यवस्था के एक नए अध्ययन (1973) के अनुसार अमरीका की तुलना में सोवियत अर्थ-व्यवस्था उस जनसंख्या के लिए केवल आधा उत्पादन करती है जो अमरीका से 18 प्रतिशत से अधिक है लेकिन यह उत्पादन अमरीका की तुलना में अमरीकी में लगे श्रमिक दल के ड्योढ़े श्रमिक दल की सहायता से किया जाता है।

अब इस प्रकार के दावे नहीं सुनाई दे रहे हैं। ये दावे इस शताब्दी के 7वें

8. 'द इकनॉमिक ग्रोथ इन जापान एंड द यू० एस० एस० आर०', जार्ज एलन एंड अनविन, 1969, पृष्ठ 14.

दशक के प्रारंभ में ख्रुश्चेव ने बड़े गर्व के साथ किए थे। उदाहरण के लिए यह कहा जाता था कि रूस अपने राष्ट्रीय उत्पाद में शीघ्र ही अमरीका से आगे बढ़ जाएगा और 1980 तक उत्पादन की इतनी अधिकता हो जाएगी कि उससे वास्तविक साम्यवाद का प्रयोग सफल होगा अथवा ऐसा नियम चरितार्थ होगा कि 'प्रत्येक को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार सभी कुछ प्राप्त हो'। और यह योजना अन्ततोगत्वा कार्यान्वित की जाएगी। ख्रुश्चेव के उत्तराधिकारियों ने एक ऐसी अर्थव्यवस्था बना ली है जिसके अनुसार 1979 में कुल राष्ट्रीय आय अथवा निवल राष्ट्रीय उत्पाद 912 अरब डालर से कुछ ही अधिक थी जबकि अर्थव्यवस्था की यह राशि 1960 की अर्थव्यवस्था की पूर्वानुमानित 1.52 ट्रिलियन राशि से काफी कम थी और पांच वर्ष पूर्व निर्धारित लक्ष्यों से 153 अरब डालर से भी अधिक कम थी।

रूस की अर्थव्यवस्था अमरीकी अर्थव्यवस्था की मात्रा की तुलना में मोटे तौर पर 55 प्रतिशत है। रूस ने इसी अर्थव्यवस्था में से अमरीकी अर्थव्यवस्था के डालर-प्रति डालर के हिसाब से रक्षा व्यय और नई जमा निवेश में तुलनात्मक खर्च किया है। रूस को इन दोनों क्षेत्रों में समता लाने के लिए जो भुगतान करना होता है उसके अनुसार उपभोक्ता वस्तुओं की उपलब्धता की आवश्यक कीमत कम करनी होती है। रूस की जनसंख्या अपेक्षाकृत अधिक है और इसके बावजूद रूस में कुल उपभोग 1971 में 27,00,000 लाख डालर हुआ जबकि अमरीका में 73,10,000 लाख रहा। इस प्रकार रूस का कुल उपभोग अमरीका की तुलना में केवल 41 प्रतिशत था।

भूतपूर्व यू० एस० सेक्रेटरी आफ़ स्टेट, पीटर जी० पैटरसन ने जुलाई 1973 के 'स्पैन' में एक लेख में लिखा है :

> रूस ने अमरीका की तुलना में 11 प्रतिशत अधिक कच्चा इस्पात और 39 प्रतिशत अधिक सीमेंट उत्पन्न किया फिर भी रूस में केवल 6 प्रतिशत मोटर गाड़ियां और केवल 30 प्रतिशत ट्रक और बसें ही बनाई गईं।
>
> अमरीका का उपभोक्ता रूस के उपभोक्ता की तुलना में तीन गुने रेफ्रीजरेटर, नौ गुने रेडियो, तीन गुने टेलीविजन और सात गुने वैकूम क्लीनर रखता है। रूस में पूर्णतया स्वतःचालित वाशर-ड्रायर और फ्रीजर जैसी अधिक समय तक चलने वाली उपभोक्ता वस्तुएं न तो बनाई जाती हैं और न बेची जाती हैं। इसी प्रकार रूस का नागरिक अमरीकी नागरिक की अपेक्षा मांस का सेवन भी बहुत कम करता है जिसका मुख्य कारण यह है कि रूस के कुछ भागों में अन्न की कमी रहती है। यह आशावान स्थिति है कि अभी हाल ही में आगामी तीन वर्षों के लिए रूस ने अमरीका से कम से कम 7,500 लाख डालर का अन्न खरीदने के लिए समझौता किया है जिसके फलस्वरूप रूस में अन्न के अभाव की स्थिति में सुधार होगा।
>
> दूसरी ओर रूस में अमरीका की अपेक्षा पर्याप्त मात्रा में उर्जा के रिज़र्व काफी अधिक हैं। रूस में जलविद्युत शक्ति के उत्पादन के लिए अभी जिन

स्थलों का प्रयोग नहीं किया है वे भी हमारे देश की तुलना में $2\frac{1}{2}$ गुने से अधिक हैं। रूस में कोयले का रिज़र्व भी हमारे देश की तुलना में 350 प्रतिशत अधिक हैं और रूस के प्रमाणित प्राकृतिक गैस रिज़र्व भी हमारे देश की तुलना में लगभग 30 प्रतिशत अधिक हैं। तेल और प्राकृतिक गैस दोनों के संभावी (प्रमाणित के विपरीत) रिज़र्व के संबंध में यह माना जाता है कि रूस शायद अमरीका की तुलना में अधिक लाभकारी स्थिति में है। इसके अलावा रूस में अन्य महत्त्वपूर्ण खनिज संसाधनों के विशाल भंडार हैं; अमरीका में निकल, प्लैटिनम, कच्चा मैंगनीज़ और क्रोम का उत्पादन रूस के उत्पादन की तुलना में अल्प (निकल के लिए 9 प्रतिशत) से लेकर अत्यल्प (क्रोम और मैंगनीज़ के लिए 1 प्रतिशत) तक है।

अमरीका की अर्थव्यवस्था का विशेष लक्ष्य यह है कि वहां कृषि क्षेत्रक में तुलनात्मक रूप से कहीं अधिक तकनीकी जटिल मशीनरी है; और यह बात रूस की अर्थव्यवस्था के लिए सही नहीं है। रूस में अन्न उत्पादन के लिए अमरीका की तुलना में 8 गुने से अधिक लोग काम पर लगाए जाते हैं लेकिन रूस में अमरीकी फार्मों की तुलना में आधे से कम ट्रैक्टर और ट्रक तथा केवल तीन-चौथाई ग्रेन कम्बाइन्स प्रयोग किए जाते हैं। इस स्थिति के और जलवायु की कम अनुकूल परिस्थितियों के कारण रूस में 1971 में कृषि श्रमिक उत्पादकता का अनुमान अमरीकी स्तर के केवल 11 प्रतिशत तक ही रहा है।

ऊपर दिए गए तथ्यों और आंकड़ों से जो तस्वीर सामने आती है उसकी पुष्टि एक अकाट्य तथ्य से हो जाती है अर्थात् वह एक पत्र है जो तीन सोवियत बुद्धिजीवियों ने सोवियत नौकरशाही के नेताओं को लिखा था। ये तीन बुद्धिजीवी विद्वान एन्द्रे सखारोव, जो उद्‌जन बम के अपने कार्य के लिए विख्यात हैं, इतिहासकार रॉय मैंदवेदेव और भौतिकशास्त्री वेलतिन तौरशिने हैं।

रोनैल्ड सीगल ने लिखा है कि "रूस की अर्थव्यवस्था की तुलना अमरीकी अर्थव्यवस्था से करने पर यह विदित होता है कि इन तीनों प्रमुख बुद्धिजीवियों (अस्पष्ट) ने यह घोषणा की कि हम केवल मात्रा की दृष्टि से ही पीछे नहीं हैं बल्कि सबसे दुःखद स्थिति यह है कि गुणवत्ता में भी'''हम साधारणतया किसी अन्य युग में जी रहे हैं। रूस के लोगों की वास्तविक आय हाल ही के वर्षों में बहुत ही कठिनाई से बढ़ी है और मुद्रा स्फीति के स्पष्ट लक्षण दिखाई देते हैं। यहां तक कि रूस के शैक्षिक स्तर भी, जो इस व्यवस्था के विशेष गौरव और आश्वासन माने गए थे वे भी आशा के अनुसार सफल नहीं हुए। शिक्षा के विकास की मध्यम गति हमारे देश के भविष्य को विशेषतया बेचैन करने वाली है। वास्तव में हमारे देश में शिक्षा पर कुल पूंजी-लागत अमरीका की शिक्षा की कुल पूंजी-लागत की तुलना में बहुत कम है और उसकी दर भी बहुत कम गति से बढ़ रही है'''विज्ञान और प्रौद्योगिकी की दशा को देखकर भी संतोष नहीं होता। दूसरी औद्योगिक क्रांति शुरू हो गई है और अब आठवें

दशक के प्रारंभ में हम यह देखते हैं कि यही नहीं कि हम अमरीका से आगे नहीं बढ़ सके हैं बल्कि दोनों देशों में अधिक अंतर होता जा रहा है।"[9]

रोनाल्ड सीगल ने यह भी बताया है कि रूस में आर्थिक असंगति सर्वत्र स्पष्ट है : शहर और गांव में, उन्नत और पिछड़े प्रदेशों में और इससे कहीं अलग एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति में अंतर है। यह असंगति व्यक्ति के सामाजिक कार्य की दृष्टि से निर्धारित की गई कीमत में है। अन्य लाखों व्यक्तियों के उपभोग स्तरों से कहीं अधिक ऊंचा स्तर रखने वाला एक विशिष्ट व्यक्ति भी सुस्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

रूस ने स्पूतनिक और आई० सी० बी० एम० पर काफ़ी पूंजी लगाकर न्यूक्लीय क्षेत्र में अमरीका की तुलना में समानता प्राप्त कर ली है लेकिन यह देश के उद्योग को दांव पर लगाकर किया गया है। रूस में मुख्य यूनिटें गतिरोध से आक्रांत हैं। अतः रूस को पश्चिमी देशों की प्रेरणा की अधिक आवश्यकता है। मुख्यतया अमरीकी पूंजी की आवश्यकता है ताकि विशेष रूप से वह पिछड़ापन दूर कर दिया जाए जो अर्थव्यवस्था की लगभग उन सभी शाखाओं में विद्यमान है जो उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करती हैं। इसलिए इस बात का विशेष महत्त्व है कि अगस्त 1970 में रूस ने जर्मन जनवादी गणराज्य के साथ आक्रमण न करने की संधि पर हस्ताक्षर किए ताकि पूंजी-ऋण और तकनीकी सहायता का भविष्य बन सके और इसी हेतु जून, 1973 में अमरीका के साथ भी समझौता किया गया है। प्रमुख पूंजीपति रॉक फैलर ने अपने चेज़ मैनहट्टन बैंक की मास्को की शाखा नं० 1 कार्ल मार्क्स एवेन्यू में खोली है और इटली की फिएट कम्पनी ने रूस के साथ एक करार किया है जिसके अनुसार एक विशाल मोटरकार कारखाना स्थापित हुआ है जो प्रतिवर्ष लगभग 7 लाख कारें तैयार करेगा। जापान के साथ भी वित्तीय और प्रौद्योगिकी सहायता के लिए बातचीत की गई है ताकि साइबेरिया में प्राकृतिक गैस और खनिज संसाधनों का उपयोग किया जा सके।

संपादक श्री गिरीलाल जैन ने 28 जुलाई, 1976 को 'टाइम्स आफ़ इंडिया' में एक लेख प्रकाशित किया है। इस लेख के अनुसार रूस और अन्य पूर्वी ब्लाक के देशों ने जो कुल ऋण व्यापार और उधार के कारण पश्चिमी देशों से लिया है वह1975 में एक करोड़ डालर अधिक हो गया और कुल मिलाकर यह 32 अरब डालर तक पहुंच गया। इस ऋण में से अकेले पश्चिमी जर्मनी ने 8 अरब डालर का ऋण दिया है और यह आशा की जाती है कि वर्ष 1976 के अंत तक यह ऋण बढ़कर 40 अरब डालर तक हो जाएगा। जहां तक व्यापार का संबंध है 1971-75 के मध्य रूस ने 63 लाख टन बड़े व्यास वाली इस्पात पाइपों का अधिकांशतया पश्चिमी जर्मनी से आयात किया है जबकि रूस विश्व में सबसे अधिक इस्पात पैदा करने वाला देश है। रूस ने पश्चिमी देशों से 2,000 पूरे संयंत्रों का आयात किया जिनमें वोलगा कार और कामा ट्रक के

9. 'द स्ट्रगल अगेंस्ट हिस्ट्री, वेडनफैल्ड एंड निकलसन', 5 विंसले स्ट्रीट, लंदन, डब्ल्यू० आई०, 1971, पृष्ठ 91.

कारखाने भी शामिल हैं और जिनमें 48 अरब डालर की वे उपभोक्ता वस्तुएं भी शामिल हैं जो रूस के कुल आयातों का 40 प्रतिशत भाग है। अंतिम बात यह है कि रूस अपने आयातों की कीमत चुकाने के लिए कच्चे माल का निर्यात करता है।

इसलिए स्पष्ट रूप से रूस ऐसा उदाहरण प्रस्तुत नहीं करता जिसका भारत उपयोगी रूप से अनुकरण कर सके; आज की परिस्थितियों में साम्यवाद उत्पादन बढ़ाने में उतना सक्षम नहीं है जितना कि पूंजीवाद है। इसी प्रकार चीन से भी शिक्षा लेने का प्रश्न नहीं उठता। यदि साम्यवाद के तरीके से रूस ने स्पष्ट रूप से अपनी जनता के रहन-सहन का स्तर ऊंचा नहीं किया जबकि उनके पास पर्याप्त संसाधन थे तो इसकी तुलना में चीन के पास कम संसाधन होने के कारण संभवतया ऐसी आशा नहीं की जा सकती। यद्यपि कोई भी विश्वसनीय सूचना उपलब्ध नहीं है तथापि भारत की तुलना में सफल कहानी हो भी अथवा वहां के लोगों को भारतीयों की तुलना में अपेक्षाकृत अच्छा भोजन और कपड़ा मिला भी हो तो इसका एक कारण यह है कि उसने गांधीजी की शिक्षाओं में से कुछ शिक्षाएं ग्रहण कर ली हैं। कई निर्दोष स्रोतों से विभिन्न रिपोर्टें प्राप्त हुई हैं जिनके अनुसार माओ-त्सीतुंग ने 1962 से कृषि को प्रथम प्राथमिकता ही नहीं दी बल्कि अधिकांशतया मानवीय श्रम पर विश्वास किया है और बड़े पैमाने की पंजीकृत परियोजनाओं और उद्योगों की अपेक्षा अपने देश में श्रमिक सघन उद्यमों को विकेन्द्रित किया है।

इसके अलावा हमारे सामने लोकतंत्रीय देशों के कई उदाहरण हैं जो द्वितीय विश्वयुद्ध में ध्वस्त हो गए अथवा नहीं भी हुए। इन देशों में आर्थिक संवृद्धि चीन की आर्थिक संवृद्धि से कहीं अधिक है यद्यपि वे राष्ट्रीय संसाधनों में चीन के समान अथवा चीन से अधिक अभाव से पीड़ित हैं। 1979 की अधुनातन विश्व बैंक एटलस के अनुसार 1970-77 की अवधि में चीन में प्रति व्यक्ति संवृद्धि दर 4.5 है। यह संवृद्धि दर आगे दिए गए आठ देशों की औसत दर से कहीं कम है। ये आठ देश सर्वसत्तात्मक देश नहीं हैं और उनके पास विशाल अथवा विशेष प्रकार के संसाधन, यथा—खनिज तेल आदि नहीं हैं और ये कम विकसित देशों के वर्ग में आते हैं। ये देश इस प्रकार हैं : डौमिनिकल गणतंत्र (4.6), मलेशिया (4.9), मिस्र (5.2), ताइवान (5.5), (इंडोनेशिया (5.7), इक्वेडोर (6.1), ब्राजील (6.7) और दक्षिणी कोरिया (7.6)।

इसलिए भारतीयों को अपनी संवृद्धि बढ़ाने के लिए अपनी स्वतंत्रता समर्पित नहीं करनी होगी। यह उनका लोकतांत्रिक नेतृत्व ही है जिसने उन्हें असफल कर दिया है। सर्वसत्तात्मक प्रणाली लोकतंत्रात्मक प्रणाली से अधिक अच्छी सिद्ध नहीं हुई है।

इस प्रकार हम ऐसे अकाट्य निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारत में पूंजी-प्रधान संरचना के लिए आवश्यक उपाय के रूप में पूंजी शीघ्र ही घरेलू बचतों के माध्यम से प्राप्त नहीं हो सकेगी, कम-से-कम अधिक शीघ्रता से, चाहे हमारे देश का ढांचा लोकतांत्रिक हो अथवा साम्यवादी।

फिर भी पूंजी का एक स्रोत था जिससे हम सहायता ले सकते थे और वह स्रोत अन्तर्राष्ट्रीय बाजार है। इस उपाय के औचित्य को पश्चिमी देशों के अर्थशास्त्रियों

रेंजर, नर्स के और आर्थर लोविस ने बताया है : गरीब देश दुष्चक्र में उलझ जाते हैं। क्योंकि उनकी आय कम थी अतः बचतें कम रहीं; क्योंकि बचतें कम थीं अतः निवेश कम रहा; क्योंकि निवेश कम था अत: उत्पादकता कम रही; क्योंकि उत्पादकता कम थी अत: आय कम रही। इसलिए भारत और इसी कारण अन्य कोई भी गरीब देश अपने ही साधनों से उचित अवधि में उन्नति नहीं कर सका। इस बात पर तर्क दिया गया कि यह दुष्चक्र जिसमें कोई देश अपने को उलझा हुआ पाता है वह टूट नहीं सका। इस प्रकार भारत का काफ़ी विकास अत्यधिक विदेशी सहायता के बिना नहीं हो सका।

एक दूसरा रास्ता भी खुला हुआ था। महात्मा गांधी ने यह सलाह दी थी कि देश को अपने ही संसाधनों की शक्ति से नीचे से ऊपर उठाने के लिए मद्धिम गति और शांति से काम लेना होगा। लेकिन नेहरू ने कोई भी बात न सुनी। उनका दिल अमरीका और रूस के आधार पर औद्योगिक संरचना स्थापित करने की ओर झुका हुआ था और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने यह निर्णय किया कि भारी उद्योग के लिए विदेशी पूंजी और विदेशी प्रौद्योगिकी प्राप्त करने के लिए सभी कुछ दांव पर लगा दिया जाए; इसके साथ ही साथ इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भोजन, पानी, कपड़ा, आवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की कीमत पर भी भारी उद्योग के लिए यथासंभव सभी घरेलू संसाधनों को भी उसी ओर लगा दिया जाए।

सभी संभव स्रोतों से विदेशी पूंजी का स्वागत किया गया या यह कहना चाहिए कि विदेशी पूंजी को आमंत्रित किया गया। कोई भी ऐसा देश नहीं है जिसने संभवतया हमें धन उधार न दिया हो और जिससे धन प्राप्त करने के लिए न कहा गया हो तथा (1949 में) एक ऐसा कानून भी बनाया गया जिसने विदेशी पूंजी लगाने वालों को यह आश्वासन दिया कि अपने देश में भारतीय और विदेशी कम्पनियों के बीच किसी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा। इसका स्पष्ट उद्देश्य यह था कि भारत में विदेशी प्रौद्योगिकी का आयात करके उसे अपने में ही मिला लिया जाए।

नेहरू और उनके परामर्शदाताओं ने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपनाए गए मार्ग के विषय में कुछेक आशंकाओं को भी स्वीकार किया। औद्योगिकीकरण या विशेष रूप से भारी उद्योगों में अपेक्षाकृत अधिक निवेश, उत्पादकता में भावी वृद्धियों के लिए एक आधार स्थापित करेगा और विज्ञान और प्रौद्योगिकी के 150 वर्षों के परिणाम जो पश्चिम के राष्ट्रों को उस समय उपलब्ध नहीं थे, जब उन्होंने अपना औद्योगिकीकरण प्रारंभ किया था, इसलिए इनसे गरीब राष्ट्रों और धनी राष्ट्रों के अन्तर को दूर करने में तीव्र गति से सहायता मिलेगी।

कहा जा सकता है कि जबकि हमारे देश के लोग अधीर थे और जैसे-जैसे समय गुजरता गया वे अधिकाधिक अधीर होते गए, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे नेताओं को भी अधीर होना चाहिए था। हमारे नेताओं को यह महसूस करना चाहिए था कि कोई भी योजना इतिहास की गति नहीं बढ़ा सकती और जो संसाधन उपलब्ध नहीं हैं उन्हें पैदा नहीं कर सकती अथवा हमारी विशाल जनसंख्या के कारक को निष्प्रभावित नहीं कर सकती।

प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के उस जादूगर की खोज का उल्लेख करते हुए, जो उनके लिए देश की आर्थिक समस्या का समाधान कर सकेगा, एक टीकाकार ने अगस्त 1973 में किसी समय 'टाइम्स आफ़ इंडिया', नई दिल्ली में इस प्रकार लिखा है :

> "ऐसे किसी जादूगर की आवश्यकता नहीं है जो उन्हें यह बताए कि पश्चिमी मॉडल यहां नहीं चलाया जा सकता क्योंकि अधिकांश पश्चिमी देशों में प्रारंभिक काल में सरकार को सभी प्रकार के उन लोकतांत्रिक दबावों का सामना नहीं करना पड़ा था जो हमारे देश में विद्यमान हैं। जब ब्रिटेन ने औद्योगिकीकरण प्रारंभ किया तो उन सभी व्यक्तियों की आवाजें दबा दी गईं जो आदिम संचय के विनाश से अधिकांशतया पीड़ित थे : यह स्थिति हमारे देश की नहीं है और ऐसे जादूगर की भी आवश्यकता नही है जो हमारे देश में ऐसे लोगों को राजसत्ता में लाए जिनके हाथ में वह शक्ति हो जो रूस में तितर-बितर औद्योगिकीकरण के प्रथम दशकों में आततायी सोवियत शासन सत्ता-धारियों के हाथ में रही है।"

रूस और अन्य देशों के अनुभव से हमारे नेता यह स्वीकार करें कि कोई भी आरोपित औद्योगिकीकरण हमारे देश के लोगों की आर्थिक दशाओं को तेजी से नहीं सुधार सकता। 1917 की रूसी क्रांति के 40 वर्षों बाद डब्ल्यू० एस० वॉयटिंस्की ने लिखा है, "इसमें संदेह है कि रूस में साम्यवादी शासन के अधीन रूस के लोगों की प्रति व्यक्ति आय भोजन, आवास, कपड़ा और जीवन की सुविधाओं के लिए अन्य पदार्थ, काम करने के घंटे और दशाओं तथा व्यक्तिगत और आर्थिक सुरक्षा में उत्साहवर्धक वृद्धि हुई है। फिर भी यह निश्चय है कि अभेद्य देशों के अनुभव से इस विचार को कोई समर्थन नहीं मिलता कि आरोपित औद्योगिकीकरण से आर्थिक और सामाजिक प्रगति में तीव्रता लाई जा सकती है।"[10]

10. 'इंडिया द : अवेकनिंग जाइंट', हारपर एंड ब्रदर्स, न्यूयार्क, पृष्ठ 190.

10

समाजवाद और मिश्रित अर्थव्यवस्था

समाजवाद समता के लिए मानव की जन्मजात लालसा से उत्पन्न अस्पष्ट और प्राचीन विचार है जिसे अनेक दूरदर्शी और सद्भाव वाले व्यक्तियों ने आगे बढ़ाया है। समाजवाद का विचार या समाजवाद के विचार 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के समय के हैं जब रॉबर्ट ओवन और कई फ्रेंच विचारकों[1] ने पूंजीवादी अथवा स्वतंत्र उद्यम वाले समाजों के विकल्प को खोजने का प्रयास किया था। अलवत्ता उनके मूल्यांकन अंशतः पहले के दार्शनिकों से विरासत में मिले थे। वे वास्तव में मानवतावादी और प्रबुद्ध थे। उन्होंने समस्त मानव जाति के लिए मूलभूत समता की नई विषयवस्तु देने का प्रयास किया और शायद यह धार्मिक स्वरूप का सबसे पुराना रूपांतर था और जिसे ईश्वर के समक्ष समता के रूप में अभिव्यक्त किया गया था। बाद में 'औद्योगिक क्रांति' के प्रबल होने के साथ-साथ पूंजीवाद के दोष उजागर होने लगे। ऐसी परिस्थितियों में धर्मयोद्धा कार्ल मार्क्स का जन्म हुआ जिन्होंने समाजवाद को एक विज्ञान और एक पद्धति के रूप में उन्नत किया। उन्होंने यह दावा किया कि समाजवाद आवश्यकता के कारण पूंजीवाद से जन्म लेगा। चाहे आदमियों ने पुराने औजारों अथवा आधुनिक मशीनों से काम क्यों न किया हो, मार्क्स का कहना था कि मजदूर समाज का आधार है। इसलिए उनका यह प्रश्न था कि जो कामगार समाज का साधन है उसे आर्थिक सीढ़ी के सबसे निचले डंडे तक क्यों फेंक दिया गया है और जो लोग प्रकृति की शक्तियों के साथ अपनी शक्तियों को समाहित नहीं कर पाते अर्थात् जो कोई भी श्रम नहीं करते, उन लोगों ने लाभप्रद स्थान क्यों ग्रहण कर लिए हैं और वे कामगारों के श्रम के फल अथवा उत्पाद के अधिकांश भाग का लाभ क्यों उठाते हैं? चूंकि श्रम में ही ऐसी शक्ति है जो मूल्य सृजन करती

1. पेयरे लेरौनॉक्स एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक थे जिन्होंने 'समाजवाद' शब्द का सृजन किया। समाजवाद 19वीं शताब्दी के चौथे दशक में व्यक्तिवाद की प्रतिस्थापना था।

है अतः श्रम के उत्पाद का पूरा लाभ उस व्यक्ति को देना चाहिए जो श्रम करता है। धन बिना श्रम के अपेक्षाकृत अधिक धन पैदा नहीं कर सकता; आज की अर्थव्यवस्था में धन ने जो कुछ किया है वह केवल श्रम का उपयोग है। उसने अपने लिए ही श्रम के उत्पाद को विनियोजित किया है तथा श्रम के लिए बहुत ही कम राशि का भुगतान किया है।

पूंजीपति या फैक्टरी का मालिक जो कि धन की आपूर्ति करता है, वह जो धन कमाता है, मार्क्स ने उसे 'बेशी मूल्य' कहा है। यह धनराशि मजदूरों को मजदूरी के रूप में दी जानी वाली मजदूरी के अलावा होती है। मार्क्स का सुझाव है कि न्यायोचित आर्थिक व्यवस्था वही होगी जिसमें बेशी मूल्य के विनियोजक को समाप्त कर दिया जाए और कामगारों को अपने श्रम के बदले पूरा पारिश्रमिक मिल सके। सम्पत्ति-हरण करने वालों की सम्पत्ति का कौन विनियोजन करेगा? मार्क्स ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है : कामगार स्वयं ही वर्ग-संघर्ष द्वारा यह कार्य करेंगे; संघर्ष के लिए कामगारों का संगठन 'पूंजीवादी उत्पादन की प्रक्रिया' में ही अन्तर्निहित हैं।

'समाजवाद' शब्द रुचिकर ढंग से स्पष्ट होते हुए भी आकर्षक है इसलिए जो लोग और दल सरकार की प्रणाली में नितांत भिन्न विचार रखते हैं वे भी इस बात का प्रयत्न करते हैं कि वे अपने विचारों और राजनीतिक व्यवहारों में 'समाजवाद' शब्द को जोड़ कर अपने सिद्धान्तों के प्रति लोगों को आकर्षित करें। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि हिटलर ने अपनी फासिस्ट राजसत्ता को 'राष्ट्रीय समाजवाद' का नाम दिया था। कम्युनिस्ट भी बार-बार रोचक ढंग से 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग उस शासन-प्रणाली को बताने के लिएक रते हैं जिसकी आवश्यकताएं और कार्यविधि मार्क्स के 'दास कैपीटल' में बताई गई बातों के समान है। वास्तव में जब मार्क्स से समाजवाद की व्याख्या करने के लिए कहा गया तो उन्होंने यह वचन देते हुए इस प्रयास को स्थगित कर दिया कि वे अपने 'दास कैपीटल' के भावी खण्डों में इसकी परिभाषा करेंगे। इस वचन का पालन नहीं किया गया और 'दास कैपीटल' के खण्डों में से किसी खण्ड में भी हम समाजवाद की परिभाषा नहीं देख पाते। फ्रांस के रैडीकल समाजवादी केवल आमूल परिवर्तनवादी ही हैं और प्रसिद्ध कन्ज़र्वेटिव दलों में से एक दल के रूप में माने जाते हैं।

शनैः-शनैः समाजवादियों और साम्यवादियों के बीच अन्तर करने में शक्ति के हस्तांतरण का तरीका ही रहा है। समाजवादी यह विश्वास करते हैं कि निजी स्वामित्व से सार्वजनिक स्वामित्व में परिवर्तन करने के लिए जनतांत्रिक उपायों को काम में लाना चाहिए जिनमें उचित हानिपूर्ति और अधिसंख्यक सहमति होनी चाहिए जबकि साम्यवादी यह दलील देते हैं कि समाजवाद क्रांतिकारी कार्य है जिसके माध्यम से राजनीतिक राज्य शासन सत्ता और पूंजीवादियों की आर्थिक शक्ति पर काबू कर लेना चाहिए और 'सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व' से उसे शासित करना चाहिए। यह केवल सिद्धान्त है लेकिन व्यवहार में कम्युनिस्ट इसमें विशेष अन्तर नहीं रखते। विश्व का सर्वोपरि साम्यवादी देश अपने को यूनियन ऑफ सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक

(सोवियत समाजवादी गणतंत्रों का संघ) कहता है।

अधिकांशतया इस तथ्य के कारण कि जब रूस पराजित हो गया और विजयी जर्मनी अपने सैन्य दलों को उस पर कब्ज़ा करने के लिए न भेज सका तो लेनिन के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी 1917 में सर्वहारा वर्ग के नाम पर देश में संपूर्ण राजनीतिक शासन सत्ता संभालने में सफल रही। विश्व भर के लोगों को इस घटना ने बैठकर विचार करने के लिए बाध्य कर दिया। उपनिवेशी शासन सत्ता के अधीन लोगों ने इस शासन व्यवस्था के आदर्श को अपनी स्वतंत्रता के संघर्ष के रूप में देखना शुरू किया और भारत भी इस विचार से अलग नहीं था।

साम्राज्यवाद के संबंध में लेनिन के विचार पूंजीवाद की अवस्था के रूप में भारतीय राष्ट्रीयवाद की मुख्य विचारधारा बन गए और इस विचारधारा को शिक्षित समाज में लोकप्रिय बनाना आसान था। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारा शिक्षित वर्ग इस विचारधारा को राजनीतिक सूक्ति के रूप में स्वीकार करने में प्रवृत्त हुआ। इस राजनीतिक सूक्ति के अनुसार साम्राज्यवाद और पूंजीवाद, साम्राज्यवादियों और पूंजीवादियों में विभेद नहीं किया जा सकता। इसके अलावा तथ्य चाहें कुछ भी हों मुक्त व्यापार और मुक्त उद्यम का पूंजीवाद के साथ घनिष्ठ संबंध बताया गया है। यह एक ऐसा संयोजन है जिसने इन तीनों को बदनाम करने की साज़िश की है विशेष-कर, निजी उद्यम को आर्थिक उन्नति के अभाव के लिए उत्तरदायी ठहराया गया।

गुन्नार मिर्डल ने जे० एस० फर्नीवाल को उद्धृत किया है जिन्होंने ऐसे तर्क के आधार पर अकाट्य विचार दिया है जो इन प्रभावों से उभरा है :

> "मेरा विचार है कि उपनिवेशी लोग साम्यवादी **आदर्शों** के प्रति अपेक्षा-कृत अधिक सहानभूति रखते हैं क्योंकि उन्होंने पूंजीवादी **व्यवहार** के परिणामों को बहुत कुछ देखा है। वे आर्थिक व्यक्तिवाद से हटकर सहज रूप में समाजवादी विचारधारा के प्रति आकर्षित होते हैं। यह आवश्यक भी नहीं है, यद्यपि इसे छोड़ा भी नहीं जा सकता, कि उनका ध्यान उत्पादन, वितरण और विनिमय पर राज्य शासन सत्ता के नियंत्रण के समाजवाद की पाठ्यपुस्तक-सामग्री की ओर रहा है लेकिन वे ऐसे समाजवाद की ओर उन्मुख हुए हैं जो उस समाज को पुन: संगठित कराता है जो अनियंत्रित पूंजीवाद से नष्ट हो गया हो—अथवा यदि आप एक अन्य शब्द को महत्व देना चाहें तो उसे उपनिवेशवाद भी कह सकते हैं और चाहे वे कितना ही साम्यवादी तरीकों और साम्यवादी **आधिपत्य** को नापसंद करें या उनसे डरें, वे निश्चय ही व्यक्तिगत समृद्धि की मरीचिका की ओर उन्मुख न होकर सामाजिक कर्तव्य के दावे के प्रति अधिक तीव्रता से आकर्षित होंगे।"[2]

2. 'एशियन ड्रामा', खंड II, पृष्ठ 802.

ऐसे लोकतंत्र में निष्ठापूर्ण विश्वास रखने वाले व्यक्ति, जिसकी रूपरेखा पश्चिमी साहित्य में प्रस्तुत की गई है और इसके साथ ही साथ जिसे रूसी क्रांति के लक्ष्यों से मंत्रमुग्ध कर दिया गया है, भारतीय राजनीतिक नेतृत्व में काफी संख्या में हैं और इन लोगों ने ऐसी राजनीतिक आर्थिक व्यवस्था की कल्पना की है जिसके अधीन कोई भी व्यक्ति किसी भी व्यक्ति का शोषण नहीं करेगा अपितु प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-सुधार के लिए अवसर प्राप्त होगा। यह स्वप्न ऐसा था जिसमें लोकतंत्रीय स्वतंत्रता और आर्थिक समता की व्यवस्था की गई थी ताकि प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार मिले और तीव्र गति से आर्थिक संवृद्धि हो सके। इस प्रकार वे नेहरू से अधिक प्रभावित हुए और उन्होंने तत्काल समाजवाद तथा पूंजीवाद के मध्य समझौता कर लिया—यह स्थिति 'मिश्रित' अर्थव्यवस्था की थी जिसके अनुसार राष्ट्र के भौतिक संसाधनों पर स्वामित्व और उनका उपयोग आंशिक रूप से राज्य सरकार द्वारा तथा आंशिक रूप से निजी नागरिकों द्वारा किया जाना था। अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि निजी और सरकारी क्षेत्रक साथ-साथ काम करते रहेंगे। शायद यही कारण है कि बड़े-बड़े व्यापारी[3] भी इस व्यवस्था में विश्वास करने लगे अथवा भारत में समाजवाद की व्यावहारिक नीति के लक्ष्य का समर्थन करने लगे।

नेहरू ने समाजवाद के प्रति अपने विश्वास की इन शब्दों में व्याख्या की है :

> "मैं इस बात का कायल हूं कि विश्व की समस्याओं और भारत की समस्याओं के निराकरण की कुंजी समाजवाद में ही निहित है और जब मैं इस शब्द का प्रयोग करता हूं तब मैं अस्पष्ट मानवतावादी तरीके के रूप में नहीं बल्कि समाजवाद को एक वैज्ञानिक आर्थिक विचार के रूप में समझता हूं। फिर भी समाजवाद आर्थिक सिद्धान्त से भी कहीं बढ़कर है, यह एक जीवन दर्शन है और इस प्रकार इसी रूप में मुझे भी समाजवाद अपील करता है। मुझे समाजवाद के अलावा कोई भी मार्ग नहीं दिखाई देता जिससे भारतीय लोगों की गरीबी, उनकी व्यापक बेरोजगारी, उनके पतन और गुलामी को दूर किया जा सके।"

जवाहरलाल नेहरू ने जो विश्वास व्यक्त किया उसके अनुसरण में कांग्रेस और संघीय नीतियों का निर्धारण किया। यही नीतियां जवाहरलाल नेहरू की सफलता और देश का दुर्भाग्य साबित हुई हैं।

1931 में भारतीय कांग्रेस का महत्वपूर्ण कराची अधिवेशन सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में एक संकल्प पारित किया गया जिसके अनुसार शासन सत्ता द्वारा मुख्य

3. इस बात की पुष्टि उन सदस्यों की सूची को देखकर हो सकती है जो देश भर में (1971-77) कांग्रेस विधानमंडल के दलों (नवीन) के सदस्य रहे हैं। इस सूची में भारतीय राज्यों के भूत-पूर्व शासक और बड़े जमींदार, बड़े ठेकेदार और व्यापारी शामिल किए गए हैं। 1969 में कांग्रेस का विभाजन भी हो गया लेकिन इस स्थिति में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं आया।

उद्योग और सेवाएं तथा प्राकृतिक संसाधनों का स्वामित्व अथवा नियंत्रण किया जाना था और इसके साथ ही साथ उसे रेलवे, जल मार्ग, जहाजरानी और अन्य संचार के साधनों पर भी स्वामित्व या नियंत्रण रखना था। इसके बाद जिन नीतियों की घोषणाएं की गईं वे सभी कराची संकल्प के आधार पर थीं और अब वे केवल अधिक निर्णायक और अधिक स्पष्ट थीं। इन घोषणाओं में से सबसे महत्वपूर्ण घोषणा 6 अप्रैल, 1948 के संघीय शासन के औद्योगिक नीति के संकल्प के रूप में हमारे सामने आई जिसने सार्वजनिक क्षेत्र के संरक्षण को अधिक विस्तार दिया है। इस संकल्प में यह कहा गया है कि हथियार और गोला-बारूद, आणविक ऊर्जा और रेलवे परिवहन केन्द्रीय सरकार के एकाधिकार में रहेंगे और इनके अलावा सरकार छ: प्रमुख उद्योगों, यथा—कोयला, लोहा और स्टील, वायुयान-निर्माण, जहाज-निर्माण, टेलीफोन, टेलीग्राफ और वायरलैस-औजार (रेडियो रिसीविंग सैटों को छोड़कर) और खनिज तेलों के नवीन कारोबारों की स्थापना के लिए नितांत उत्तरदायी होगी लेकिन प्रतिबंध यह है कि जहां कहीं भी राष्ट्रीय हित निहित होगा उन दशाओं में यह संकल्प लागू नहीं किया जाएगा और यह स्थिति उस दशा में भी बनी रहेगी जहां निजी उद्यम का सहयोग लेना आवश्यक हो। शेष औद्योगिक क्षेत्र निजी उद्यम के लिए छोड़ दिए गए लेकिन यह स्पष्ट कर दिया गया कि सरकार इस क्षेत्र में भी प्रगामी रूप से सहभागी होती जाएगी। इस विचारधारा में 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया लेकिन इससे 'मिश्रित' अर्थव्यवस्था की स्पष्ट पुष्टि होती है। फिर भी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूरे सात बर्षों तक ठोस कदम नहीं उठाए गए। जनवरी, 1955 में अवादी में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन आयोजित किया गया। इस अधिवेशन ने 'समाज के समाजवादी' रूप के पक्ष में अपना निर्णय घोषित किया लेकिन न तो इस शब्दावली की व्याख्या की गई और न वस्तुत: कोई ऐसा तर्क दिया गया कि वे 'गांधीवाद' शब्द को क्यों छोड़ रहे हैं अथवा समाजवाद की तुलना में गांधीवाद क्यों कम प्रतीत होता है।

मौलाना अबुल कलाम आजाद के नाम से पहला संकल्प पारित हुआ जिसमें यह कहा गया कि अर्थव्यवस्था के सार्वजनिक क्षेत्रक को प्रगामी रूप से बड़ी भूमिका अदा करनी चाहिए और विशेषकर आधारभूत उद्योगों की स्थापना की जानी चाहिए, जबकि निजी क्षेत्रक अन्य कारणों से महत्त्वपूर्ण रहेंगे। इस संकल्प में यह भी विचार किया गया कि योजना 'समाज के समाजवादी रूप' का निर्माण किये जाने के विचार से बनाई जाए। नेहरू ने दूसरा संकल्प अधिवेशन में रखा जिसमें यह कहा गया कि घोषित उद्देश्य की दृष्टि से सरकार को योजना और विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। विशेष रूप से इसके द्वारा (1) बड़े पैमाने पर योजनाओं को प्रारंभ करना होगा तथा उन्हें चलाना होगा ताकि विद्युत शक्ति परिवहन आदि सेवाएं उपलब्ध कराई जा सकें, (2) संसाधनों और अर्थव्यवस्था में सामाजिक प्रयोजनों, प्रवृत्तियों तथा आवश्यक अधिशेषों पर भी पूर्णरूपेण नियंत्रण किया जाएगा, (3) महत्त्वपूर्ण नियंत्रणों, निजी न्यासों और उत्पादक संघों के निरोध और श्रम तथा उत्पादन

के स्तरों के रख-रखाव से अराजकतावादी औद्योगिक विकास के दुर्गुणों पर नियंत्रण और उनकी रोकथाम की जाएगी तथा (4) राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को उसके आधार-भूत व्यापक परिप्रेक्ष्य में योजनाबद्ध किया जाएगा ।

श्री नेहरू ने संकल्प के समर्थन में यह कहा :

> "मैं उस सीमा का सरकारी समाजवाद नहीं चाहता जहां सरकार ही सबसे अधिक शक्तिशाली हो और वही व्यावहारिक रूप से सभी कार्यों पर अपना शासन करे । सरकार राजनीतिक ढंग से अधिक सशक्त है । यदि आप सरकार को आर्थिक रूप से भी अधिक सशक्त करना चाहते हैं तो सरकार प्राधिकार का केवल संचय ही बन जाएगी । इसलिए मैं चाहता हूं कि आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण किया जाए । अलबत्ता हम लोहा, इस्पात तथा लोको-मोटिव इंजन तथा इसी प्रकार के बड़े उद्योगों का विकेन्द्रीकरण नहीं कर सकते लेकिन आप सहकारिता के आधार पर यथासंभव उद्योगों की छोटी-छोटी यूनिटें भी बना सकते हैं जिन पर सामान्य रूप से सरकार का नियंत्रण होगा ।"

नेहरू ने अपने भाषण में 'समाजवाद' और 'समाजवादी' रूप जैसे शब्दों का अंधाधुंध प्रयोग किया है । उन्होंने जोरदार शब्दों में कहा है कि "समाजवादी रूप ही समाजवाद है । यह कल्पना न करें कि इसका अर्थ समाजवाद के अतिरिक्त भी कुछ और हो सकता है···कुछ लोग समाजवादी रूप, सामाजिक रूप और समाजवाद में बहुत ही बारीक अन्तर स्थापित करते हैं । इन तीनों शब्दों का लगभग एक ही अर्थ है और इनमें तनिक भी अन्तर नहीं है ।

एक वर्ष बाद, 2 फरवरी, 1956 को शहीद नगर में कांग्रेस का खुला अधिवेशन आयोजित किया गया । इस अधिवेशन में नेहरू ने कहा, "पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से भारत धीरे-धीरे गरीबी की दीवारों को मिटा देगा और जैसे ही हम दूसरी पंच-वर्षीय योजना के विभिन्न पक्षों से गुजरते जाएंगे वैसे-वैसे गरीबी की ये दीवारें गिरनी शुरू हो जाएंगी और समाज के सामाजिक रूप की स्थापना करने के लिए तेजी से प्रगति कराने हेतु अपेक्षाकृत अधिक कार्यक्षेत्र उपलब्ध हो जाएगा ।" श्री नेहरू से समाज-वाद की व्याख्या करने के लिए कहा गया तो उन्होंने कहा, "मैं नहीं समझता कि मैं समाजवाद की व्याख्या सूक्ष्म और अनम्य शब्दों में करूं जबकि समाजवाद कुछ ऐसा है जो सूक्ष्म नहीं होना चाहिए ।" इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि श्री नेहरू के निधन के बाद भी हमारी सरकार ने आर्थिक नीतियों को कभी भी यथातथ्य नहीं बनाया है ।

30 अप्रैल, 1956 को औद्योगिक नीति संकल्प पारित किया गया जिसे दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-61) में शामिल किया गया । इस संकल्प में यह घोषणा की गई है :

> "राष्ट्रीय उद्देश्य और इसके साथ ही साथ योजनाबद्ध तथा तीव्र विकास की आवश्यकता के रूप में समाज के समाजवादी रूप की स्वीकृति के लिए यह

आवश्यक है कि सभी आधारभूत और विशेष महत्वपूर्ण योजनाओं अथवा सार्वजनिक उपयोगिता की प्रकृति के अनुकूल सेवाओं को सार्वजनिक क्षेत्रक के अधीन होना चाहिए। अन्य उद्योग जो आवश्यक हैं और जिनमें आज की परिस्थितियों को देखते हुए केवल सरकार ही निवेश कर सकती है, उन्हें भी सार्वजनिक क्षेत्रक के अधीन होना चाहिए ।

स्वयं इस संकल्प में यह कहा गया है कि यह संकल्प 6 अप्रैल, 1948 के संकल्प की बात ही दोहराता है ।

28 मई, 1956 को लोक सभा में दूसरी पंचवर्षीय योजना की स्वीकृति मिली और नेहरू यह जान गये थे कि भारतीय समाज को समाजवादी रूप में ढालने के लिए किसी भी प्रयत्न का उस योजना में कोई संकेत नहीं था। अतः नेहरू ने अपराजेय सुरक्षा वाली स्थिति को अपनाकर कहा, "मैं सूक्ष्म शब्दों में यह कहना नहीं चाहता कि समाजवाद का क्या अर्थ है···क्योंकि हम कठोर और सिद्धान्तवादी विचारधारा को त्यागना चाहते हैं···लेकिन, मोटे तौर पर यह कह सकते हैं कि हम एक ऐसा समाज चाहते हैं जिसमें अवसर की क्षमता हो और प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह संभव हो सके कि वह एक अच्छा जीवन बिता सके। इसलिए हमने समता पर जोर दिया है और असमानताओं को हटाने का प्रयास किया है।"

दूसरे दिन बहस का समापन करते हुए नेहरू ने निजी उद्योग को हथियाने की नीति को नकारते हुए यह घोषणा की :

> "यहां मैं यह कहना चाहूंगा कि मैं सार्वजनिक क्षेत्रक की संवृद्धि के पक्ष में भले ही रहूं फिर भी मैं निजी क्षेत्रक की निंदा नहीं कर सकता अथवा यह नहीं हो सकता कि मैं निजी क्षेत्रक की अवहेलना को बढ़ावा दूं। इस योजना में अन्तर्निहित जो पूर्ण दर्शन है उसका प्रयोजन संवृद्धि के लिए संभव उपाय से लाभ उठाना है और ऐसा कुछ नहीं किया जाना है जो किसी मतवादी सिद्धांत के अनुकूल हो अथवा किसी कल्पना का द्योतक हो जिन्हें हमने पैदा कर लिया है क्योंकि हम कई सौ वर्ष पूर्व की कतिपय पाठ्यपुस्तकों के सिद्धांतों से संतुष्ट रहे हैं। हम राष्ट्रीयकरण की बात करते हैं मानो राष्ट्रीयकरण प्रत्येक रोग की कोई अचूक दवा हो। मुझे विश्वास है कि अन्ततोगत्वा उत्पादन के सभी प्रमुख साधन राष्ट्र के स्वामित्व में हो जाएंगे लेकिन इस समय मुझे ऐसा कुछ नहीं दिखाई देता कि मुझे आज कुछ ऐसा करना चाहिए जिससे किसी सैद्धांतिक ललक की संतुष्टि के लिए ही हम अपनी प्रगति को सीमित कर दें। मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस समय भारत में निजी क्षेत्रक को बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा करना है लेकिन यह बराबर शर्त है कि निजी क्षेत्रक को दी गई सीमाओं में ही कार्य करना है और यह शर्त हमेशा ही रहेगी कि निजी क्षेत्रक कोई भी कार्य ऐसा न करे जिससे एकाधिकारों का सृजन हो और अन्य ऐसी बुराइयां बढ़ जाएं जिनके कारण सम्पत्ति का

> संचयन बढ़ता ही जाय। मैं सोचता हूं कि हमारे कानूनों में इन निजी क्षेत्रकों पर गतिरोध लगाने के लिए काफी शक्ति है। हम किसी भी उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर लेने से भयभीत नहीं हैं।"

बृहद् वृक्षारोपण के अलावा कृषि और इसके साथ ही छोटे पैमाने के उद्योग और हस्तशिल्प भी निजी क्षेत्रक के अधीन ही रहे और उन्हें शक्तिशाली भी करना था। सहकारी समितियों पर इस बात का विश्वास किया गया कि इन क्षेत्रों में विकेंद्रीकरण और किफायतों, दोनों से होने वाले लाभों को शामिल किया जाय। 1959 में कांग्रेस अधिवेशन में सहकारी कृषि के संबंध में संकल्प पारित किया गया और 1971-73 में इस आशय की घोषणाएं की गईं कि उपलब्ध भूमि पर राजकीय अथवा संयुक्त कार्यों की स्थापना की जाए तथा जोतों को कम करने अथवा उन पर शर्तें लगाने से यह विदित होता है कि कांग्रेस नेतृत्व यदि कृषि का भी राष्ट्रीयकरण कर सके तो भूमि का राष्ट्रीयकरण भी करना चाहेगा। प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू अपने इस विश्वास के प्रति सही थे और उन्होंने अपने इस विचार को प्रायः व्यक्त किया कि समाजवादी समाज में भूमि के निजी स्वामित्व का कोई स्थान नहीं है और यदि परिस्थितियां अनुकूल हों तो उन्हें इस बात में कोई हिचक नहीं होगी कि इस प्रकार के स्वामित्व को बिलकुल ही समाप्त कर दिया जाए। सभी समाजवादियों के समान नेहरू को भी उद्योग की भांति कृषि में भी बड़ी यूनिटों पर विश्वास था। यही कारण है कि उन्होंने कांग्रेस-मंच से सहकारी कृषि के पक्ष में संकल्प पारित करवाया और राजकीय फार्मिंग के विचार के साथ भी खिलवाड़ की।

28 मार्च, 1959 को उन्होंने लोक सभा में सहकारी कृषि पर भाषण देते हुए निम्न घोषणा की :

> "अलबत्ता सदन को यह याद होगा कि हमने कहा है कि भूमि का स्वामित्व बना रहेगा। कुछ लोग कहते हैं कि यह या तो छल है या यदि हम इसे जो अर्थ देते हैं, हम उस अर्थ के प्रति अटल नहीं रह सकेंगे। मैं नहीं जानता कि मैं भविष्य के बारे में कैसे कहूं? स्वामित्व की संकल्पना एक विचित्र संकल्पना है जो युगों में बदलती रही है। सदन इस बात से अवगत है कि आचार्य विनोबा भावे का यह विचार है कि भूमि का स्वामित्व बिलकुल भी नहीं होना चाहिए। यही विचार है : मैं इस विचार का आदर करता हूं और वस्तुतः मुझे बहुत प्रसन्न होना चाहिए, यदि कहीं ऐसा हो सके। लेकिन मैं यह नहीं सोचता कि आज ऐसा हो सकेगा...। स्वामित्व की पूरी संकल्पना में परिवर्तन हो रहा है और फिर भी हम एक वर्ग गज जमीन पर अपने स्वामित्व के लिए चिपके हुए हैं...। शहरों में ऐसी सड़कें थीं, जिन पर निजी स्वामित्व था, पुल भी निजी स्वामित्व के अधिकार में थे और सभी प्रकार की वस्तुएं निजी स्वामित्व के अधिकार में थीं। अब सड़क सार्वजनिक सम्पत्ति अथवा नगरपालिका की सम्पत्ति हो गई है, पुल नगरपालिका या सार्वजनिक

सम्पत्ति बन गया है और सार्वजनिक सुविधाओं तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं के स्वामित्व बदल चुके हैं। रेलवे और इसी प्रकार की अन्य वस्तुएं भी सार्वजनिक सम्पत्ति बन चुकी हैं। निजी स्वामित्व के विचार में परिवर्तन आ रहा है और इससे आम जनता तथा व्यक्ति को लाभ पहुंचा है। इस प्रकार यह परिवर्तनशील समाज अपने स्वामित्व के इन आधारभूत स्वरूपों के आदर्शों को बदल देता है। यह होता ही रहेगा। किसी को भी इससे भयभीत नहीं होना चाहिए। वास्तव में हर व्यक्ति को इसका स्वागत करना चाहिए किन्तु शर्त यह है कि हम जिन उद्देश्यों की पूर्ति करना चाहते हैं, यह परिवर्तन उन उद्देश्यों की ओर उन्मुख होता रहे।"

'सार्वजनिक उपयोगिता' एक ऐसा साधन अथवा संगठन है जो ऐसी सेवा करता है जिसकी आवश्यकता समुदाय के कुछ अथवा सभी सदस्यों के जीवन के लिए होती है। वास्तव में भूमि भी एक उपयोगिता है, लेकिन यह इस बात का अनुसरण नहीं करती कि समुदाय सामुदायिक रूप से अथवा मिलकर अथवा उपयोगी ढंग से उसका उपयोग कर सके, जैसा कि एक सड़क अथवा पुल अथवा रेल का उपयोग किया जाता है। सड़क आदि का मामला भिन्न है, जबकि भूमि उत्पादन का एक माध्यम है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी समर्पण की भावना से कहीं अधिक उत्पन्न कर लेता है, जबकि मिले-जुले प्रयत्न से ऐसा नहीं हो पाता। पं० नेहरू इस बात को अनुभव करने में असफल रहे।

11 दिसम्बर, 1963 को लोक सभा में भाषण देते हुए पं० नेहरू ने यह स्वीकार किया कि, 'अन्य शब्दों के समान ही समाजवाद शब्द भी अस्पष्ट शब्द है' और उन्होंने आगे यह घोषणा की :

"हम समाजवादी राज्य के लिए योजना बनाना चाहते हैं। हम भारत के प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान अवसर के लिए योजना बनाना चाहते हैं और हम यह सब अपनी सरकार की लोकतांत्रिक संरचना के दायरे में ही करना चाहते हैं। मेरा विचार है कि हमें सफलता मिलेगी। मैं नहीं कह सकता कि हमें इसमें कितना समय लगेगा।

"इसी बीच में स्वाभाविक रूप से हमारी सबसे बड़ी समस्याएं उत्पादन को बढ़ाने की हैं; इसी स्थिति में हम उन वस्तुओं की आपूर्ति कर सकेंगे जिनकी आवश्यकता लोगों को है और हमें उन वस्तुओं के वितरण पर भी चौकस रहना चाहिए ताकि कहीं अधिक मात्रा में वस्तुएं इकट्ठी न हो पाएं और कहीं उन वस्तुओं का अभाव ही न हो। मोटे तौर पर ये दोनों तरीके हैं। हम समाजवाद की किसी मताग्रही प्रणाली से बंधे नहीं हैं लेकिन मोटे तौर पर ऐसे उपाय हैं जिनके संबंध में मेरा विचार है कि वे समाजवाद के सिद्धान्त हैं।"

जनवरी, 1964 में कांग्रेस पार्टी का भुवनेश्वर में अधिवेशन सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में 'संसदीय लोकतंत्र पर आधारित समाजवादी सरकार' के उद्देश्यों की व्याख्या की गई।

पाठक यह पहले ही देख चुके हैं कि समाजवाद औपचारिक रूप से जनवरी, 1955 में कांग्रेस के अवादी अधिवेशन से प्रारंभ हो चुका था। लेकिन कांग्रेस के नेताओं को अभी तक यह पता नहीं चला कि वास्तव में उनके मस्तिष्क में क्या है। नेहरू ने वर्षों तक शासन सत्ता संभाली फिर भी वे स्वयं न तो इस बात पर राजी थे और न बताने के योग्य ही थे कि समाजवाद का शुद्ध मार्ग अथवा समाजवाद के शुद्ध मार्ग क्या हैं जिनके सहारे वे देश के उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नेतृत्व करेंगे जिन्हें कि उन्होंने अपने सामने स्थापित कर लिया था।

निश्चित रूप से कोई भी यह नहीं कह सकता कि नेहरू वैज्ञानिक समाजवादी थे अथवा अस्पष्ट मानववादी। क्या उन्हें उत्पादन के छोटे या बड़े सभी तरीके पसंद थे जो सरकार अपना सकती थी अथवा क्या वे यह सब नहीं पसंद करते थे। अन्य कई मामलों के समान नेहरू को दोनों ही ओर उद्धृत किया जा सकता है। यही बात श्रीमती इन्दिरा गांधी के लिए भी सही है, जो अपने पिता की सौगन्ध खाती हैं।

लोकमत प्राप्त करने की आवश्यकता के उद्देश्य से नई कांग्रेस (प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस) ने जनवरी, 1971 में अपने चुनाव के नीति-घोषणा-पत्र में सुस्पष्ट रूप से यह घोषणा की कि जो साधन अपनाएं जायेंगे वे आर्थिक शक्ति और सम्पत्ति को कुछ ही लोगों के हाथ में केन्द्रित होने से रोकेंगे, "ऐसा कोई इरादा नहीं है कि निजी सम्पत्ति की संस्था का उन्मूलन कर दिया जाय। दूसरी ओर 'समाजवादी' प्रकार की नीतियों पर बल देते हुए उन्होंने एक वर्ष बाद भुवनेश्वर में यह घोषणा की कि "साम्यवादियों और कांग्रेस की विचारधारा घरेलू और विदेशी नीतियों की दृष्टि से समान है।[4]

31 मई, 1972 को श्रीमती इन्दिरा गांधी ने राष्ट्रीय विकास परिषद् में भाषण देते हुए कहा, "हमारे विचार और कार्य में किसी न किसी प्रकार की क्रांति होनी चाहिए।" और इसके बाद उन्होंने उन दिशाओं की ओर संकेत किया जिनमें यह क्रांति की जा सकती है और इसके लिए उन्होंने कुछ सवाल पूछे : "क्या हम लाभ के उद्देश्य से ही काम करते रहेंगे? क्या हमारी संग्रह की प्रवृत्ति का आज की परि-स्थितियों में कोई स्थान है? क्या हम पश्चिमी प्रतियोगी समाज से आगे भी जा सकेंगे?"

फिर भी सार्वजनिक क्षेत्रक की कार्य-प्रणाली की आलोचना का सामना करते हुए श्रीमती इन्दिरा गांधी ने सार्वजनिक उत्सवों में बार-बार यह घोषणा की कि समाज-

4. 'द टाइम्स आफ इंडिया', 10 फरवरी, 1974.

वाद का अर्थ यह नहीं है कि सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाए और यह कि सरकार किसी भी विशेष उद्योग का राष्ट्रीयकरण तभी करेगी जब उसका राष्ट्रीयकरण आवश्यक होगा। यह कहा जाता है कि 9-10 अक्टूबर, 1972 को गांधीनगर (गुजरात) में उन्होंने एक ऐसी कल्पना का विस्फोट किया जिसके संबंध में प्रेस ने अभिव्यक्त किया है कि "राष्ट्रीयकरण स्वयं ही समाजवादी कदम है।"

27 फरवरी, 1972 को प्रधान मंत्री इन्दिरा गांधी ने लोकसभा में दिए गए राष्ट्रपति के भाषण पर बोलते हुए भारत के समाजवाद के संबंध में अपनी संकल्पना की व्याख्या की, जो इस प्रकार है :

> "मेरे विचार से समाजवाद को इस बात पर ध्यान नहीं देना चाहिए कि सरकार ही सब कुछ करे। न तो हम यह स्वीकार करते हैं और न हम इसे चाहते हैं। हम यह चाहते हैं कि समान अवसर का एक ऐसा वातावरण पैदा हो जाए जिसमें करोड़ों लोग अपने आप ही अपनी सहायता कर सकें। हमारे विचार से समाजवाद राष्ट्रीयकरण के साथ का अंतिम स्टेशन नहीं है। जहां कहीं भी किसी भी कार्य को अधिक अच्छे ढंग से चलाने के लिए अथवा सार्वजनिक हित के निमित्त राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता होगी तो हम ऐसा करने से नहीं हिचकिचाएंगे। हम यह विश्वास नहीं करते कि कुछ हथियाने के निमित्त ही राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए।"

दिसम्बर, 1972 के अंतिम सप्ताह में आयोजित कलकत्ता के अधिवेशन में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने पाठ्यपुस्तकों में दिए गए समाजवाद की चर्चा करने पर चेतावनी दी और यह कहा, "हमारी अपनी समस्याएं हैं अतः हमारे समाधान भी अपने ही होंगे।"

इसके चार वर्षों बाद, 30 मई, 1976 को नई दिल्ली में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में भाषण देते हुए श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा :

> "समाजवाद केवल पढ़कर ही नहीं सीखा जा सकता बल्कि लोगों के साथ खेतों पर काम करके और हाथों को हिला-डुलाकर ही सीखा जा सकता है।" उन्होंने इस बात की ओर संकेत किया कि उन्हें किसी भी 'वाद' में विश्वास नहीं है लेकिन उन्होंने समाजवाद को स्वीकार किया है क्योंकि समाजवाद ही एक ऐसा शब्द है जो उनकी उस भावना के सबसे नजदीक है, जिसके सहारे वे लोगों की सेवा करना चाहते हैं।
>
> "लोकतंत्र के समान समाजवाद भी विश्व भर के अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग अर्थ देता है। हमारे लिए समाजवाद का अर्थ यह है कि भारत के लोगों का जीवन अधिक अच्छा बनाया जाए और यह तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि सरकार को आर्थिक शक्ति प्रदान न की जाए।"[5]

5. 'द इंडियन एक्सप्रेस', नई दिल्ली, 31 मई, 1976.

गांधी जी ने 1934 में देश में अत्यधिक शक्ति संपन्न सरकार के विकास के विरोध में चेतावनी दी थी, और यह कहा था कि निम्नलिखित शब्दों में समाजवाद के अन्तर्गत सरकार अधिक शक्ति-संपन्न हो सकती है।

> "स्वायत्त शासन का अर्थ एक ऐसा अनवरत प्रयत्न है जिससे सरकारी नियंत्रण से स्वतंत्रता मिले, चाहे वह विदेशी सरकार हो अथवा चाहे वह राष्ट्रीय सरकार हो। स्वराज्य सरकार की स्थिति खेदपूर्ण होगी। यदि लोग सरकार की ओर इस आशा में निहारते रहें कि वह उनके जीवन के प्रत्येक कार्य को नियमित करती रहेगी।
>
> "कोई भी राष्ट्र जो अपने मामलों को सरकार के अधिक दखल के बिना ही सरलता और प्रभावकारी ढंग से निभाता रहे तो वह वास्तव में लोकतांत्रिक है। यदि कहीं भी ऐसी दशा का अभाव होता हो तो इस प्रकार की सरकार केवल नाममात्र को ही लोकतांत्रिक सरकार है।
>
> "मैं किसी भी सरकार की बढ़ती हुई शक्ति को सबसे अधिक डर से देखता हूं क्योंकि यदि ऐसी सरकार देखने में बहुत कम शोषण करती हुई नजर आती है तो इसके साथ ही साथ वैयक्तिकता नष्ट करने में भी सबसे अधिक हानि पहुंचाती है, जबकि वैयक्तिकता ही सभी प्रगति का मूलाधार है।"[6]

एक वर्ष बाद गांधी जी ने फिर कहा कि उनके मतानुसार कम से कम संख्या में बड़े पैमाने की परियोजनाएं या उद्योग जो हमें आवश्यक रूप से रखने हैं, राज्य के या तो अधिकार में होंगे या उनके द्वारा नियंत्रित किए जायेंगे। लेकिन गांधी जी नियमानुसार सम्पत्ति पर सरकारी स्वामित्व के विरोधी थे। उन्होंने कहा :

> "व्यक्तिगत रूप से मैं यह चाहूंगा कि सरकार के हाथों में सत्ता केन्द्रित न हो, बल्कि उस सत्ता का विस्तार न्यास के रूप में किया जाना चाहिए, क्योंकि मेरी राय में निजी स्वामित्व की हिंसा राज्य की हिंसा से कम हानिप्रद है। फिर भी, यदि इसको किसी प्रकार से भी बचाया न जा सके तो मैं न्यूनतम सरकारी स्वामित्व का समर्थन करूंगा।"[7]

ऊपर से आरोपित नियोजन, जिसमें समाजवाद आवश्यक रूप से सम्मिलित हो जाता है, स्वतंत्रता का हनन कर देता है, क्योंकि इसमें लोगों से यह आशा की जाती है कि वे अपने निर्णय को आगे न बढ़ाकर केवल आदेशों का ही पालन करते रहें। इसके अलावा यह तरीका अकुशल भी है क्योंकि इसमें उस सूक्ष्म ज्ञान का उपयोग करना भी संभव नहीं है जो करोड़ों लोगों में भरा हुआ है। यदि योजना को नीचे से ऊपर बनाया जाय, जैसा कि गांधी जी की आर्थिक संकल्पना में निहित था,

6. 'अमृत बाजार पत्रिका', कलकत्ता, 2 अगस्त, 1934.
7. 'एन इण्टरव्यू विद गांधी जी', 'मॉडर्न रिव्यू', अक्टूबर, 1935.

तो इससे प्रत्येक व्यक्ति के हित सार्वजनिक कल्याण की उन्नति में लग जाते हैं और इस प्रकार वास्तविक लोकतंत्र में सहायता मिलती है।

अलबत्ता सरकार को एक भूमिका अदा करनी है अर्थात् स्थायी विधिसम्मत और आर्थिक शासन की व्यवस्था, संविदाओं का लागू करना, झगड़ों का निपटान, और अपने ही साथी नागरिकों के अत्याचारों से हमें मुक्त करना।

लेकिन कई मामलों में गांधी जी की आवाज अनसुनी कर दी गई जिसका नतीजा यह हुआ कि राष्ट्रीयकरण अथवा सार्वजनिक क्षेत्रक में उद्योगों की स्थापना के प्रयोग आर्थिक संवृद्धि के हमारे मार्ग में बड़े-बड़े पत्थर जैसे अवरोध बनकर उभरे हैं।

11

सार्वजनिक क्षेत्रक

'सार्वजनिक क्षेत्रक' शब्द सामान्यतया सरकारी परिव्यय के कुल क्षेत्र को इंगित करने की दृष्टि से प्रयोग किया जाता है जिसमें निवेश और व्यय, दोनों ही शामिल किए जाते हैं, चाहे ये सरकारी उपक्रमों या विभागीय एजेंसियों के जरिए अपने सरकारी कार्यों को पूरा करने के काम में लाए जाते हों। लेकिन आम भाषा में 'सार्वजनिक क्षेत्रक' को सरकारी उपक्रमों के जरिए की जाने वाली सरकार के उन कार्यों को ही समझा जाता है जो बड़े इस्पात संयंत्रों के संबंध में औद्योगिक हो सकते हैं, जीवन बीमा और बैंकों के संबंध में सेवाएं हो सकती हैं अथवा राज्य व्यापार निगम, खनिज धातु व्यापार निगम आदि के संबंध में व्यापार हो सकते हैं। दूसरे प्रकार के सार्वजनिक क्षेत्रक का उदय 19वीं शताब्दी के मध्य में हुआ जब यह विचार किया गया था कि समाजवाद के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उत्पादन के सार्वजनिक स्वामित्व को पहला कदम मानना चाहिए। जब विश्वविद्यालय और रात्रि-स्कूल के कतिपय बुद्धिजीवी, बर्नार्ड शॉ, बीट्राइस और सिडनीवैब द्वारा प्रतिपादित क्रमवाद की अपरिहार्यता के फेबियन सिद्धांतों से प्रभावित हुए तब ब्रिटेन की लेबर सरकार ने भी देश के कतिपय मुख्य उद्योगों, यथा—बिजली, परिवहन और गैस के राष्ट्रीयकरण के व्यापक कार्यक्रम प्रारंभ किए। इस राष्ट्रीयकरण के कार्यक्रम के पीछे मुख्य विचार कामगारों के शोषण का अंत कर देना था। दूसरा तर्क जिसके आधार पर उत्पादन के साधनों में सार्वजनिक स्वामित्व को न्यायसंगत ठहराया गया, वह कार्ल मार्क्स की भविष्यवाणी थी जिन्होंने जर्मन के हेगेलीय दर्शन, फ्रांसीसी समाजवाद और अंग्रेजी राजनीतिक अर्थव्यवस्था को मिलाकर बेशी मूल्य की स्थापना का प्रतिपादन करते हुए यह घोषणा की थी कि पूंजीवाद की गति के नियम ही पूंजीवाद के पतन और समाजवाद की विजय के कारण बनेंगे। उनके मतानुसार लाभ की गिरती हुई दर, कार्यशील वर्ग की तल्लीनता और अकिंचनता का नियम, सर्वहारा वर्ग के विरोध को बढ़ाने के

लिए पूंजीवाद के अन्तर्गत असमानता, एकीकरण और प्रतियोगिता के ह्रास द्वारा जीवित रहने के लिए पूंजीवर्ग का संघर्ष, पूंजीवाद के एकाधिकार का निर्माण और वाणिज्यिक चक्रों की प्रबलता अन्ततोगत्वा एकाएक हिंसात्मक क्रांति का रूप ले लेगी। फिर भी वर्ष 1900 अर्थात् इस भविष्यवाणी के तीन दशकों में भी विश्व भर में मजदूरी की दरें गिर नहीं रही थीं बल्कि बे बढ़ती जा रही थीं और सरकार ने कीन्सवादी तकनीकों को अपनाकर बेरोजगारी कम कर ली और वाणिज्यिक चक्रों को अस्तव्यस्त कर दिया। हालांकि मार्क्स के प्रशंसकों को मुंह की खानी पड़ी लेकिन उन्होंने इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया और उन तथ्यों को नकारते रहे या मार्क्स की विचारधारा को अपने ही तरीके से प्रस्तुत करते रहे। उदाहरण के लिए, एसुआर्ड बर्नस्टीन ने मार्क्सवाद की व्याख्या बर्नार्ड शॉ और वैब के विकासात्मक समाजवाद के रूप में की या जैसे लेनिन ने यह स्वीकार कि कामगारों का विशेष स्तर मध्यवर्गीय हो सकता है और वे कामगार शोषण की लूट में अपना हिस्सा बंटा सकते हैं लेकिन उन्होंने इस बात की पुष्टि की कि सर्वहारा वर्ग के ये विश्वासघाती लोग प्रायः यूरोप और उत्तरी अमरीका के महानगरीय केन्द्रों से बाहर उपनिवेशों के शोषण पर जी रहे थे।

अंग्रेजों ने भारत छोड़ते समय इस देश में एक मजबूत प्रशासनिक ढांचा छोड़ा था जो कि कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए तो प्रशंसा का पात्र था लेकिन यह प्रशासन जनकल्याण के रूप में काम करने के लिए पर्याप्त नहीं था। इसलिए जैसे ही हमारा देश स्वतंत्र हुआ और नेहरू ने शासन की बागडोर संभाली तो इस नगरोन्मुख अधिकारी तंत्र को जिसे भारत के ग्रामों में रहने वाले करोड़ों असहाय लोगों की परिस्थितियों का बिल्कुल भी ज्ञान नहीं था और जिन्होंने पश्चिमी अर्थशास्त्र के 'आक्सब्रिज' सिद्धांतों का ही अध्ययन किया था, उसी को देश की द्रुत संवृद्धि का कार्य सौंपा गया। वे शीघ्र उन बने-बनाए सिद्धांतों की ओर उन्मुख हो गए जो अपेक्षाकृत अधिक सकल राष्ट्रीय उत्पाद का आश्वासन देने वाले थे और उन्होंने यह कल्पना की कि उद्योगों के सार्वजनिक स्वामित्व से देश को आवश्यक बेशी उत्पाद मिल सकेगा। जब पहली योजना कार्यान्वित की जा रही थी उस समय संसद ने समाज के समाजवादी रूप को सामाजिक और आर्थिक नीति के उद्देश्य के रूप में स्वीकार कर लिया था। इसी प्रसंग में 1956 के संकल्प में घोषणा की गई :

> "समाज के समाजवादी रूप को राष्ट्रीय उद्देश्य की तरह स्वीकार करना है क्योंकि नियोजित और तीव्र गति से आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि सभी मूल उद्योग और सामरिक महत्व के उद्योगों को, जो कि सार्वजनिक उपयोगिता सेवा की प्रकृति के हों, सार्वजनिक क्षेत्रक में होना चाहिए। अन्य उद्योगों को भी, जो आवश्यक हैं और जिनमें ऐसे स्तर के निवेश की आवश्यकता है जो आज की परिस्थितियों में केवल सरकार ही उपलब्ध करा सकती है, सार्वजनिक क्षेत्रक में रखना चाहिए। इसलिए सरकार को व्यापक क्षेत्रक में उद्योगों के भावी विकास का सीधा उत्तरदायित्व अपने हाथ में ही

लेना होगा।"

इस संकल्प में मूल और कुछ सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण उद्योगों पर बल दिया गया। ये उद्योग सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं के रूप में थे। ये उद्योग आवश्यक थे और इन उद्योगों में उसी स्तर के निवेश की आवश्यकता थी जिसकी व्यवस्था सरकार ही कर सकती थी। इस प्रकार उद्योगों में सरकारी प्रवेश की दृढ़तापूर्वक जो सीमाएं निर्धारित की गई थीं उन सीमाओं का अतिक्रमण कांग्रेस सरकार ने शीघ्रता से कर डाला और कांग्रेस सरकार ने किसी भी ऐसे उद्योग अथवा उपक्रम को अपने हाथ में ले लिया जो लाभप्रद दिखाई दिया और जिनका संरक्षण के वितरण और बड़े उद्योगपतियों को फंसाने के उद्देश्यों के लिए उपयोग किया जा सकता था। इस प्रकार खनन और खनिज के अलावा सार्वजनिक क्षेत्रक का विस्तार वस्त्र उद्योग चीनी, परामर्शदात्री सेवा, वित्तीयन, व्यापार, बिजली और इलेक्ट्रोनिक्स, बीमा आदि में कर दिया गया। इस अविवेकी विस्तार का परिणाम यह हुआ कि 31 मार्च, 1979 तक की स्थिति के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्रक के उपक्रमों में कुल 15,602 करोड़ रुपये का निवेश किया जा चुका था।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि मार्क्स से प्रारम्भ करके श्रीमती इन्दिरा गांधी तक किसी ने भी इसकी व्याख्या नहीं की है कि समाज के समाजवादी रूप की परिभाषा क्या है। 'शॉर्टर ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' के तीसरे संस्करण के पृष्ठ 136 पर समाजवाद की परिभाषा व्यंग्यात्मक रूप में करते हुए इस शब्द के प्रयोग का उदाहरण दिया गया है, जो इस प्रकार है:

> "समस्त समाजवादी योजनाओं की सबसे खराब बात यह है कि उन सभी में काम से जी चुराने वाली निंदनीय इच्छा होती है।"

भारत में वास्तव में यही हुआ है।

मध्य 19वीं शताब्दी में समाजवाद के अनुसरण में कारखानों तथा उत्पादन के अन्य साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व की मांग बढ़ती गई जिसका मुख्य उद्देश्य यह था कि उन कामगारों का शोषण समाप्त कर दिया जाए जिन्हें मत देने का अधिकार नहीं था, जिन्हें हड़ताल करने का अधिकार नहीं था, जिन्हें कोई संघ बनाने का अधिकार नहीं था और जिनके पास मनमाने ढंग से उन्हें बर्खास्त कर देने के खिलाफ कोई सुरक्षात्मक उपाय नहीं था। यह भी विचार किया गया कि कारखाने पर सार्वजनिक स्वामित्व से कामगारों की प्रतिष्ठा बढ़ेगी और आज की स्थिति की अपेक्षा अधिक लोकतांत्रिक और समतावादी समाज का प्रादुर्भाव होगा। इसके अलावा किसी भी कारखाने को सार्वजनिक हित में शासन द्वारा चलाए जाने पर उसकी क्षमता बढ़ेगी जबकि इसके पूर्व पूंजीवादी स्वयं अपने हित में ही उस कारखाने का प्रबंध करता था।

अब जहां तक पहले उद्देश्य का संबंध है उसकी अब कोई संगतता नहीं रही

है। कार्ल मार्क्स ने औद्योगिक कामगारों के सर्वहारा वर्ग की वृद्धि के संबंध में जो भविष्यवाणी की थी वह सही नहीं उतरी है। पूंजीवादी देशों में परंपरावादी श्रमिक वर्ग के बराबर कोई हुआ हो या न हुआ हो, फिर भी पश्चिमी देशों में उदार पूंजीवाद ने इतने अधिक सशक्त ढंग से उपभोक्ता वस्तुओं का निर्माण करने की क्षमता प्राप्त कर ली है जिससे इस युग के लिम्बस में आम गरीबी की दशाएं पैदा कर दीं जो आज की परिस्थितियों से बिलकुल भिन्न हैं जिसमें सम्राटों के दैवी अधिकार का समर्थन किया गया है।

वास्तविक आय उस अनुपात में कम नहीं हुई है जितनी कि मशीनों के उपयोग और श्रम में वृद्धि हुई है। बल्कि उद्योग के विस्तृत क्षेत्रों में वास्तविक आय इतनी अधिक बढ़ गई है कि श्रमिक और मध्यम वर्गों के बीच में कई परम्परागत भेद समाप्त हो गए हैं। आम गरीबी आज भी विद्यमान है लेकिन यह गरीबी मार्क्सवादी सर्वहारा वर्ग की गरीबी से भिन्न है। इस गरीबी को नितांत गरीबी न कहकर सापेक्ष गरीबी कहा जा सकता है। भारत में निजी क्षेत्रक के अधिकांश बड़े पैमाने के उद्योगों के कामगारों को मजदूरी और अन्य लाभ मिलते हैं जिससे वे हमारी जनता के दस प्रतिशत उच्च आय वर्ग में आ जाते हैं।

अमरीका का औसत कामगार प्रतिमास लगभग 5,000 रुपए पैदा कर लेता है। वह घर और संभवत: दो कारों का स्वामी होता है जबकि समाजवादी देशों में उसी जैसा कामगार अपनी आय का 60 प्रतिशत भाग जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं, यथा—अन्न और कपड़ों को खरीदने में खर्च कर देता है।

जहां तक कामगारों के शोषण के संघर्ष का संबंध है निजी सम्पत्ति का उन्मूलन ही, जिसमें सार्वजनिक क्षेत्रक अथवा समाजवाद निहित है, यथासंभव उस शोषण को समाप्त करने की अगुवाई नहीं कर सका। नौकरशाही को नियंत्रित करने की समस्या बनी रही क्योंकि उसमें मानवीय चरित्र निहित है और उसके समाधान के बहुत कम या बिल्कुल ही संकेत दिखाई नहीं देते। यदि देश में कई बड़ी-बड़ी सार्वजनिक परियोजनाओं में श्रमिकों के संबंध अधिक अस्तव्यस्त हैं तो इसका कारण यह है कि नौकरशाही शक्ति का पदसोपान कामगार से बहुत अधिक दूर है। सार्वजनिक स्वामित्व अथवा राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ संयंत्र अथवा किये जाने वाले काम से कामगार का तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। यहां तक कि सभी राष्ट्रीयकृत उद्योगों में सशक्त श्रमिक संघों की सहायता से अकेला कर्मचारी यह महसूस करता है कि उसका अपने प्रतिदिन के जीवन की अधिकांश परिस्थितियों पर किसी प्रकार का कोई वास्तविक नियंत्रण नहीं है और उसे केवल एक प्रकार के अधिकारियों से बदल कर दूसरे प्रकार के अधिकारियों के अधीन कर दिया जाता है। अर्नाल्ड जे० ट्वायन्बी ने बहुत पहले ही, सितम्बर-अक्टूबर, 1958 के 'हार्वर्ड बिज़नेस रिव्यू' में कहा है, "कर्मचारी की दृष्टि से इसमें उसके लिए अपेक्षाकृत कम व्यावहारिक अन्तर होता जा रहा है कि उसके देश का सरकारी आदर्श क्या है और वह किसी सरकार द्वारा नौकर रखा गया है या किसी वाणिज्यिक निगम द्वारा।"

अधिक समतावादी समाज बनाने और निजी एकाधिकार को समाप्त करने के संबंध में, जिन्हें सार्वजनिक स्वामित्व से प्राप्त किया जाता था यह पता लगा कि यह उद्देश्य अन्य तरीकों, यथा—कर लगाने, कीमत-नियंत्रण, गुणवत्ता की आवश्यकताएं निर्धारित करने और वृद्धावस्था-पेंशन, बीमारों को लाभ पहुंचाने आदि के संबंध में सामाजिक कानून बनाने और श्रमिक संघों की बराबर शक्ति से प्राप्त किया जा सकता है। इंगलैंड और अमरीका में इन तरीकों को काम में लाकर इस शताब्दी के अन्तिम 25 वर्षों में धनी और निर्धन के बीच की खाई को बहुत कुछ पाट दिया गया है जबकि भारत में जहां 50 प्रतिशत से अधिक औद्योगिक क्षमता सरकार के हाथ में है, धनी और निर्धन के बीच की खाई अधिक बढ़ गई है।

सार्वजनिक उपक्रमों की संसदीय समिति ने वर्ष 1971-72 की अपनी रिपोर्ट में सार्वजनिक उपक्रमों के प्रतिनिधियों के दृष्टिकोणों का उल्लेख किया है कि सार्वजनिक क्षेत्रक निजी लोगों के पास सम्पत्ति के संचय को रोकने में बहुत अधिक प्रभावी नहीं हुए हैं। समिति ने यह भी कहा है कि अभी तक सार्वजनिक उद्योगों को स्थापित करने से होने वाले व्युत्पन्न लाभ भी छोटे वर्गों, यथा—ठेकेदारों, वितरकों, कच्चे माल की आपूर्ति करने वालों और बड़े-बड़े उद्योगपतियों को ही मुख्यतया हुए हैं।

जहां तक कुशल प्रबंध का संबंध है, सार्वजनिक क्षेत्रक का कार्य अधिक निराशाजनक है। अभी तक सरकार उत्साह, शक्ति और उद्यम के स्रोत-रूप में निजी लाभ के समान कोई भी मनोवैज्ञानिक तुल्यांक नहीं खोज पायी है। सरकारी संगठन चाहे वे विकसित देशों के हों अल्प विकसित देशों के, दक्षतापूर्वक औद्योगिक उद्यमों को चलाने के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हुए हैं।

कोई भी कामगार स्वतः सरकार के लिए उतना कठोर परिश्रम नहीं करता जितना कि वह एक निजी नियोक्ता के लिए करता है। यह आशा फलीभूत नहीं हुई है कि सार्वजनिक स्वामित्व ही कामगार की प्रवृत्ति में परिवर्तन ला देगा और इस प्रकार औद्योगिक संबंधों के नए युग का सूत्रपात होगा। राष्ट्रीयकरण के कानून बनाने वालों ने सच्चाई से यह विश्वास किया था कि कामगार अपेक्षाकृत अधिक संतोषी, स्वामिभक्त और परिश्रमी हो जाएंगे यदि इनकी नियोक्ता सरकार होगी। फिर भी, निजी कारोबारों के प्रबंधकों को जल्दी ही यह पता लग गया कि उनके यहां श्रमिकों की अभिवृत्ति निजी क्षेत्रक के श्रमिकों से भिन्न नहीं है।

जैसा कि रूस की शासन-प्रणाली ने उत्पादन के लिए वचन दिया है और जिस उत्पादन की रूस में आवश्यकता है उसमें असफलता का कारण रूस के कामगारों की अभिवृत्ति ही है। रोनाल्ड सीगल का कहना है कि "केरोल के अनुसार, काम पर अनुशासनहीनता से सरकारी तौर पर रूस की अर्थव्यवस्था में प्रतिवर्ष 720 लाख कार्य के दिनों की हानि का अनुमान लगाया गया है। इन आंकड़ों में अनुपस्थिति की दर का कोई हिसाब नहीं लगाया गया है ताकि 'खतरे की घण्टी की आवाज़' को बचाया जा सके। और कतिपय उद्योगों में उत्पादन इतना अधिक कम है कि ऐसा लगता है कि कामगार 'धीरे काम करो' की तकनीक के अभ्यास में लगे हुए हैं और गांवों में

भी ऐसा लगता है कि किसान उदासीन भाव से काम करते हैं।"

भारत में श्रमिकों का असंतोष वास्तव में सभी बड़े सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यमों में आरंभ से ही फैल चुका है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्र को भारी हानियां हुई हैं। सार्वजनिक उद्यम पर सरकारी प्रकाशन 'लोक उद्योग' के सम्पादकीय में कुछ समय पूर्व लिखा गया था, "अनुत्तरदायी मांगों की प्रचुरता और समाप्त न होने वाली यूनियनों की परस्पर प्रतिद्वन्द्विताएं सार्वजनिक क्षेत्रक के कुछेक उद्यमों तथा सार्वजनिक क्षेत्रक के कतिपय बड़े-बड़े उद्यमों के विनाश का कारण हैं।"

रजनी कोठारी ने 24 अप्रैल, 1972 के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में इस प्रकार लिखा है :

> "उदाहरण के लिए, प्रत्येक व्यक्ति का संकल्प है कि उत्पादन और उत्पादकता बढ़ाई जाय। लेकिन कभी भी विरोध की पिनपिनाहट भी सुनाई नहीं देती जब दुर्गापुर के कामगार खुले आम तोड़-फोड़ की धमकी देते हैं, सैकड़ों कामगार वर्कशाप के फर्श पर ही अपना भोजन पकाते हैं, पदार्थों और वस्तुओं को चुराते हैं और बाद में उन्हीं पदार्थों और वस्तुओं के संयंत्र को बेचते हैं और उन सभी उपायों को अपनाते हैं जिससे उन्हें समयोपरि भत्ता मिलता रहे। व्यावहारिक रूप से सभी प्रकार के राजनीतिक दल उन्हीं कामगारों के साथ काम करते हैं। लेकिन इनमें से किसी में भी साहस नहीं है कि वह उन्हें ठीक ढंग से व्यवस्थित करने का आह्वान करे।"

यह माना कि इस बदनामी का अधिकांश दायित्व कामगार का है परन्तु कामगार अकेला ही इसके लिए उत्तरदायी नहीं है। निजी उद्यम में आर्थिक शक्ति मालिकों की अपेक्षा प्रबंधकों अथवा टेकनोक्रेट के हाथ में अधिक है। यदि किसी उद्यम को निजी स्वामित्व से हटाकर सार्वजनिक स्वामित्व में स्थानान्तरित कर भी दिया जाए तो भी इन टेकनोक्रेट के अधिकारों का प्रयोग कम नहीं हो पाता। किसी भी निजी उद्यम का राष्ट्रीयकरण कर भी दिया जाए फिर भी उनके दृष्टिकोण में कोई भी उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हो पाता। वेतन, पेंशन, प्रतिष्ठा, शक्ति और पदोन्नति कार्य को बढ़ावा देने के लिए बराबर बनी रहती हैं। इसलिए समाजवादी देशों में सार्वजनिक उद्यमों के प्रबंधक सैद्धान्तिक रूप से सार्वजनिक हित में कार्य करते हैं लेकिन वास्तविकता इससे भिन्न है।

> "डॉ० ई० एफ० शुमेचर ने अपनी पुस्तक 'स्माल इज़ ब्यूटीफुल'[2] में कहा है, इसलिए यह आश्चर्यजनक बात नहीं है कि तथाकथित उन्नत समाजों में अनेक समाजवादी लोग, जो स्वयं अर्थशास्त्र के धर्म के पुजारी हैं—चाहे

2. 'स्ट्रगल अगेन्स्ट हिस्ट्री', वेडेन फेल्ड और निकलसन, 5 विन्सले स्ट्रीट, लंदन डब्ल्यू० आई०, 1971, पृष्ठ 94-95.

वे इसे जानते हों या न जानते हों—आज यह जानने के लिए उत्सुक हैं कि क्या राष्ट्रीयकरण वस्तुतः ध्यान देने का विषय नहीं है । राष्ट्रीयकरण से बहुत से कष्ट उत्पन्न होते हैं—फिर इसके लिए क्यों विचार किया जाय ? निजी स्वामित्व की समाप्ति स्वयं शानदार परिणाम पैदा नहीं करती : कोई भी लाभकर काम अभी भी समर्पित भावना और धैर्य के साथ करना है और उच्च सामाजिक उद्देश्यों के अनुसरण को साथ मिलाकर वित्तीय व्यवहार्य के अनुसरण से कई द्विविधाएं, कई प्रतीयमान विरोध पैदा होते हैं और इनसे प्रबंध में अतिरिक्त भार उठाना पड़ता है ।"

"यदि राष्ट्रीयकरण का मुख्यतया ध्येय यह है कि तीव्र गति से आर्थिक संवृद्धि, अपेक्षाकृत अधिक कार्य-कुशलता, अपेक्षाकृत अधिक अच्छा आयोजन और इसी प्रकार की अन्य उपलब्धियां प्राप्त की जाएं तो हमें निराश ही होना पड़ेगा । निजी धनलिप्सा के आधार पर समस्त अर्थव्यवस्था को चलाने के विचार से विश्व को परिवर्तित करने की असाधारण शक्ति मिली है और इस विचार को मार्क्स ने भी स्वीकार किया है ।"

सरकारी स्वामित्व से अकुशलता ही नहीं बढ़ती बल्कि विशेषतया हमारे देश की परिस्थितियों में भ्रष्टाचार भी बढ़ता है । गरीबी अपेक्षाकृत अधिक लुभाने वाले और आपराधिक ढंग के ठेके प्राप्त करने में कुनबापरस्ती और पक्षपात को बढ़ावा देती है जबकि धनी देशों में काफी संख्या में रोजगार होते हैं और सरलता से काम मिल जाता है ।

हमारे देश में सार्वजनिक क्षेत्रक के कारोबारों में अन्य बातों के साथ-साथ राजनीतिक नेताओं ने स्वेच्छा से दिए गए संरक्षण द्वारा स्थिति को बिगाड़ दिया है और उन्होंने दर्शकवृन्द के सामने खुलकर प्रयत्न किए हैं तथा व्यापारिक कुशाग्रबुद्धि और अपेक्षित प्रबंध-कौशल से विहीन तथाकथित 'प्रतिबद्ध' विशिष्ट वर्ग के ऐसे व्यक्तियों को उच्च प्रबंध के स्तर पर पहुंचा दिया है जो 'कम्बल में खटमल के समान अनुदार' रूप से अपने कार्यों से पूरा लाभ उठाते हैं और वे यह जानकर आश्वस्त हैं कि वे हानियों के प्रति उत्तरदायी नहीं ठहराए जाएंगे ।

भ्रष्टाचार निजी क्षेत्रक के समान सार्वजनिक क्षेत्रक की वरिष्ठ प्रबंध और इंजीनियरी सेवाओं के प्रतिदिन के जीवन में पाया जाता है । यदि देश के बिजली उत्पादन के अधिकांश संयंत्र आज अपनी क्षमता से कहीं कम चलाए जा रहे हैं तो इसका मुख्य कारण यह है कि उन संयंत्रों के जो इंचार्ज हैं वे लोकनिधियों को विधिवत रूप से कपटपूर्ण ढंग से हड़प रहे हैं । शारेवाती, पतरातू, इड्डकी आदि कुछेक नाम ऐसे हैं जो राष्ट्र की राजनीतिक शब्दावली में 'लोकापवाद' जैसे विशेषण के रूप में प्रयोग किए जाते हैं । राष्ट्रीयकरण की पुराण विद्या इस तथ्य की अवहेलना करती है कि भारतीय, चाहे वे सार्वजनिक या निजी क्षेत्रक में उत्तरदायी पदों को ही क्यों न

संभाले हों, लगभग एक जैसे सामाजिक स्तर के होते हैं और वे एक जैसे नैतिक मूल्यों को मानते हैं। यदि निजी क्षेत्रक में करवंचक और जमाखोर हैं तो इसी प्रकार से सार्वजनिक क्षेत्रक और सिविल सेवाओं में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो घूसखोर और आततायी हैं।

वास्तव में, राष्ट्रीय हित में पूर्णतया समर्पित उत्कृष्ट योग्यता के निःस्वार्थ व्यक्ति जो सार्वजनिक कार्य का उसी प्रकार की कुशलता से प्रबंध करते हैं जैसा कि अपने निजी कार्य को सम्पन्न करते हैं, किसी भी समाज में अधिक नहीं होते चाहे वह समाज समाजवादी हो अथवा पूंजीवादी। व्यक्तियों या समूहों को उत्पादकता हेतु प्रेरित करने के लिए जब पूंजीवाद जो कि लाभ की संकल्पना पर आधारित है, उसका प्रतिस्थापन समाजवाद या साम्यवाद में किया जाता है, जो कि आदर्शात्मक उत्साह या पुलिस पर्यवेक्षण पर आधारित है, तो यह प्रतिस्थापन अत्यधिक अल्पकालीन अथवा बहुत खर्चीला सिद्ध होता है।

उदाहरण के लिए, स्वर्गीय राष्ट्रपति टीटो को इस बात पर गहन चिंता थी कि उनके देश में प्रबंधकों ने काफी निजी संपत्तियां जोड़ ली हैं और नगरों तथा शहरों में महल बना लिए हैं तथा समुद्री तटों पर भोगविलास से पूर्ण 'डचेस' बना लिए हैं और अन्य साम्यवादी देशों में केन्द्र द्वारा नियंत्रित उद्यमों की इससे भिन्न कहानी नहीं है।

जैसा कि ब्रिटिश श्वेत पत्र में कहा गया है, "सरकार और राष्ट्रीयकृत उद्योगों के बीच स्वीकार्य संबंधों को विकसित करने में मुख्य समस्या यह रही है कि किस प्रकार सर्वोत्कृष्ट रूप से इस बात में संतुलन स्थापित किया जाए कि एक ओर उद्योगों के प्रबंध करने के लिए बोर्डों को पर्याप्त स्वतंत्रता मिलती रहे और दूसरी ओर सरकार भी उनमें अपने विधिसम्मत हित रख सके।"[3]

अधिकांश समाजवादियों के लिए समाजवाद का प्रयोजन यह है कि समाज द्वारा उत्पादनशील उद्यमों का नियंत्रण किया जाए। लोकतांत्रिक समाजवादियों के लिए इसका अर्थ विधायिका है। समाजवाद को ऐसा कोई भी नहीं मानता अथवा बहुत से लोग नहीं मानते कि किसी भी स्वायत्त प्राधिकरण द्वारा शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। फिर भी समाजवाद वहीं पाया जाता है जहां शक्ति होती है। और यह बात उन छोटे-छोटे निर्णयों में ही सही नहीं है जहां प्रतिनिधान की आशा की जाती हो बल्कि उन बड़े-बड़े निर्णयों में भी यह बात सही है जहां संसद से तर्क-सम्मत ढंग से मतदान लेने की आशा की जाती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ग्रेट ब्रिटेन, जो संसदीय प्रणाली के अन्तर्गत सीमित समाजवाद के लिए प्रतिबद्ध था, उसे भी इस बात की शीघ्र ही आवश्यकता महसूस हुई कि राष्ट्रीयकृत उद्योग के लिए स्वायत्तता की आवश्यकता है। यदि किसी मंत्री को जानकर न्याय को काम में लाना हो तो उसे कर्मचारी वर्ग की सहायता की आवश्यकता होगी। इस प्रकार यह उत्तर-

3. 'द नेशनलाइज्ड इंडस्ट्रीज', कमांड 7131, एच० एम० एस० ओ०, 1978, पैरा 3.

दायित्व फर्म से हटकर मंत्रालय तक पहुंच जाएगा। इसी समयावधि में लागत भी बहुत अधिक हो जाएगी। यदि इस प्रकार के संसदीय हस्तक्षेपों को अलग कर दिया जाए तो फर्म विशिष्ट सूचना की आवश्यकता वाले निर्णयों पर उत्तरदायित्व के साथ कार्य कर सकेगी।

फिर भी, बहुत से नवीन अथवा अल्प विकसित देशों, यथा—भारत और श्रीलंका, में ब्रिटिश प्रयोग अर्थात् सीधे ही संसदीय नियंत्रण को अपनाया गया है। संसद ही को यह अधिकार है कि वह बजट और व्यय की जांच करे, नीतियों का पुनरवलोकन करे और विशेष रूप से किसी भी निगम के किसी एक कार्य या सभी कार्यों के संबंध में उत्तरदायी मंत्री के जरिए प्रबंधक से प्रश्न करे लेकिन इनमें से कोई भी व्यवस्था संतोषजनक सिद्ध नहीं हुई है। जहां कहीं भी राष्ट्रीयकृत उद्योगों को स्वायत्तता प्रदान की गई है वहां पब्लिक बोर्ड अथवा निगम बिना किसी उत्तरदायित्व के शक्ति का प्रयोग करते हैं और जहां कहीं भी राष्ट्रीयकृत उद्योग सीधे ही संसद के प्रति उत्तरदायी हैं, वहां नौकरशाही के अवगुण, यथा—कार्य को धीमी गति से करना, बर्बादी करना या भ्रष्टाचार, उसी अनुपात में अधिक होते जाते हैं जितना कि प्राधिकरण का केन्द्र नौकरशाही से दूर होता है।

भारत और श्रीलंका जैसे अन्य देशों में समाजवादियों ने कामगारों और उपभोक्ताओं को उस बेशी का उपयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया है जिस पर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का प्रसार और संवृद्धि निर्भर है और यदि ऐसा नहीं किया गया तो स्थिरता आ जाएगी। अभी तक स्पष्ट रूप से आधारभूत वसूली नहीं हुई है कि यदि कल्याण को उत्पादन और बेशी के साथ नहीं जोड़ा जाता तो यह केवल सदा के लिए भिक्षादान ही है, कि सभी कल्याण बेशी से ही आने चाहिए और यदि कोई कार्यकुशलता और बेशी की कीमत चुकाकर समता और कल्याण लाना चाहता है तो वह एक ऐसी परिस्थिति में उलझ जाता है जिसमें समाजवाद के लिए न तो बेशी है और न ही कल्याण।

वित्त मंत्रालय और आर्थिक मंत्रालय जो सार्वजनिक उद्यम के लाभ के मूल्यांकन करने के लिए बनाई गई कसौटी के संबंध में सार्वजनिक उपक्रमों का प्रबंध करते हैं, उनके दृष्टिकोण की तीव्र भिन्नता को 5 सितम्बर, 1973 को लोकसभा में प्रस्तुत की गई सार्वजनिक उपक्रमों की समिति की रिपोर्ट में दिखाया गया है।

वित्त मंत्रालय ने समिति के समक्ष साक्ष्य देते हुए इस बात पर बल दिया है कि किसी भी फर्म के लाभ पर विशेष बल देना चाहिए, सकल प्राप्तियों पर ब्याज भी अनिवार्य रूप से होना चाहिए तथा सार्वजनिक कोष में उत्पादन कर के रूप में किया गया अंशदान केवल संक्रमित भुगतान है और उससे वास्तविक आय में कोई वृद्धि नहीं होती। इसके अलावा, मोटे तौर पर किसी भी व्यापारिक कम्पनी को 10 और 15 प्रतिशत के बीच में तथा विनिर्माण करने वाली फर्म को 6 और 12 प्रतिशत के बीच में लाभांश का भुगतान करना चाहिए।

वित्त सचिव ने अपनी टिप्पणी में कहा कि, "यदि कोई उपक्रम अपने ऋणों

पर ब्याज देने के फलस्वरूप खतरा मोल लेता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसने कोई लाभ उठाया है बल्कि यह कि उसने ब्याज का भुगतान किया है।"

उत्तरदायी सरकारी नेताओं ने प्रायः वक्तव्य दिए हैं और इस विचार का समर्थन किया है कि सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यम लाभ उठाने के लिए नहीं हैं। इन वक्तव्यों का उल्लेख करते हुए योजना आयोग के भूतपूर्व सदस्य डॉ० वी० एस० मिन्हास ने यह बताया है :

> "आयोग ने सार्वजनिक क्षेत्रक में वाणिज्यिक और औद्योगिक उपक्रमों द्वारा अर्जित लाभांश की पर्याप्त दर की आवश्यकता को पहले ही देखा है फिर भी उन्हें इस आवश्यकता के संबंध में राजनीतिज्ञों को अभी भी समझाना है। आयोग ने यह बताया है कि सार्वजनिक क्षेत्रक के औद्योगिक और वाणिज्यिक उपक्रमों के सामने लगाई गई पूंजी पर 15 प्रतिशत लाभ की दर पाने का उद्देश्य होना चाहिए। इस बात को सुनिश्चित करने का तरीका यह है कि इन लाभों को केवल एकाधिकार शक्ति के प्रयोग के आधार पर और कीमतें निर्धारित करने वाली नीतियों में पूरी लागत में इस अतिरिक्त वृद्धि को जोड़कर नहीं प्राप्त किया जा सकता। इस बात के प्रयत्न करने चाहिए कि वे प्रतियोगितासम्मत होने के साथ-साथ अपने प्रचालनों में कार्य-कुशल हों।"

जनवरी, 1971 में जारी किए गए नवीन कांग्रेस के चुनाव घोषणा-पत्र के अनुच्छेद 28 में कहा गया है: "सार्वजनिक क्षेत्रक में उद्योगों पर जनता का स्वामित्व होगा। उन्हें इस प्रकार संगठित करके चलाना चाहिए कि वे अग्रिम निवेश के लिए संसाधन पैदा कर सकें। इसलिए देश को यह अधिकार है कि ऐसे प्रबंधकर्त्ताओं और कामगारों की मांग की जाए जो काम के प्रति समर्पित और अनुशासित हों और तभी इस प्रकार जो लाभ होंगे, उनमें वे भागीदार बन सकेंगे।"

लेकिन वास्तव में इस देश के कांग्रेस अथवा समाजवादी अंचलों में ऐसा निष्क्रिय विश्वास उत्पन्न हो गया है कि सफलता कठोर परिश्रम और ईमानदारी से कार्य करके नहीं मिल पाती, बल्कि वह एक विश्वास मात्र है।

इसके विपरीत, पर्याप्त अथवा संगत लाभ के बिना सार्वजनिक अथवा निजी व्यापार अधिक समय तक नहीं चल सकता। किसी भी संयंत्र से उत्पन्न लाभ या बेशी वस्तुत: उसकी कार्य-कुशलता का मापदण्ड होता है सिवा इसके जबकि अपेक्षाकृत अधिक गरीब उपभोक्ता के हित में उत्पाद की कीमत आर्थिक रूप से कहीं कम रखी जाती है। रूस के प्रधानमंत्री श्री कोसीगिन के मतानुसार किसी भी उद्यम की कार्य-क्षमता का मूल्यांकन करने के लिए लाभ सूचकांक और लागत लेखों के सूचकांक का प्रयोग करना अपेक्षाकृत अधिक अच्छा है। प्राप्त लाभों की मात्रा बहुत अंशों में इस बात की द्योतक है कि किसी उद्यम ने उस कुल राष्ट्रीय लाभ के लिए कितना योगदान किया है जिसका उसके प्रसार अथवा उत्पादन के लिए प्रयोग किया जाता है और

जिसकी सहायता से लोगों की भलाई के कार्य किए जाते हैं।

समाजवाद के शुद्ध सिद्धांत के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्योगों को निजी उद्यमों की अपेक्षा अधिक लाभ कमाना चाहिए। यदि सार्वजनिक क्षेत्रक को बजट की बेशी को शामिल करते हुए उसकी बेशी से वित्तपोषित नहीं किया जाता तो उसे निजी क्षेत्रक के ऋण से वित्तपोषित करना पड़ता है। इसका यह अर्थ हुआ कि सार्वजनिक प्रबंध के अधीन वास्तविक सम्पत्ति का प्रसार, निजी व्यक्तियों के स्वामित्वाधीन लोक-ऋण का समान प्रसार करके किया गया है। परिसम्पत्तियों पर सार्वजनिक नियंत्रण के साथ निजी लाभ।

यह बात समाजवाद के लिए संगत नहीं थी। समाजवाद एक ऐसा सिद्धांत है जिसमें निजी सम्पत्ति को कम करने की अपेक्षा की जाती है।

जवाहरलाल नेहरू ने औद्योगिक नीति निर्धारित करते हुए जो मुख्य आदर्श बनाया है और जिस आदर्श का अनुसरण आज तक भारत सरकार कर रही है, उसका अभिप्राय यह है कि देश में पूंजी के अभाव की दृष्टि से पहली आवश्यकता यह है कि वर्तमान मजदूरी बिल के ऊपर बेशी को अधिकाधिक बढ़ाया जाए क्योंकि इसकी पुनः निवेश के लिए आवश्यकता होती है। उत्पादन के लिए पूंजी सघन तकनीकों का चयन तार्किक ढंग से इस उपाय के अनुसरण से हो जाता है। यह भी तर्क दिया गया है कि यद्यपि श्रम-सघन तकनीकों से साधरणतया शीघ्र ही अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन होगा तथापि पुनः निवेश के लिए उपलब्ध बेशी अपेक्षाकृत कम होगी। पूंजी-लागत और रोजगार की दृष्टि से संवृद्धि की दर काफी समय बाद अपेक्षाकृत कम होगी। इसकी तुलना में, यद्यपि पूंजी सघन तकनीकों से पूंजी लागत में शीघ्र ही कम वृद्धि होगी, तथापि वे अन्ततोगत्वा अपेक्षाकृत अधिक संवृद्धि की दर की ओर उन्मुख हो जायेगी।

लोकतांत्रिक समाजवाद हमारे राजनीतिक विशष्ट लोगों के लिए मुख्य मोरचा है लेकिन यह न तो समाजवाद ही है और न लोकतंत्र ही है। जवाहरलाल नेहरू ने निराश होकर अपने भूतपूर्व मंत्री में विश्वास करके कहा था जिसका सुप्रसिद्ध स्तंभ-लेखक दुर्गादास ने कृपापूर्वक उल्लेख किया है :

> "हमारे लोकतंत्र में रूस के समान अनुशासन को आरोपित करना कठिन है। और हमारा समाजवाद भी हमें उत्पादन के लिए प्रोत्साहन उपलब्ध कराने से वंचित कर देता है।"

जहां तक सार्वजनिक क्षेत्रक के ऐसे उद्यमों का संबंध है जिनमें बड़ी-बड़ी राशियों का निवेश किया गया है, वे संपूर्ण समाज के स्वामित्व में होते हैं और उनके स्वामित्व का अधिकार किसी एक विशेष व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को नहीं होता, अतः किसी व्यक्ति का, चाहे वह मंत्री हो या प्रबंधक, उन उद्यमों को सफल बनाने में कोई विशेष हित नहीं होता।

इसके अलावा चूंकि हम केवल समाजवाद में ही विश्वास नहीं करते अपितु

'लोकतांत्रिक समाजवाद' में विश्वास करते हैं अतः किसी भी कामगार को अपनी भरपूर क्षमता से कार्य करने के लिए सताया नहीं जा सकता। वह कामगार संविधान के अधीन मूलभूत अधिकारों का पूरा-पूरा लाभ उठा सकता है और इन मूलभूत अधिकारों की सुरक्षा के लिए प्रत्येक राजनीतिक दल बराबर चिन्तित रहता है और वह व्यक्ति भी अपने मूलभूत अधिकारों की रक्षा के लिए हड़ताल कर सकता है, लेकिन उस अधिकार के समकक्ष ऐसा कोई कर्त्तव्य नहीं है जिसे संविधान ने या उसकी अंतरात्मा ने उसे सौंपा हो जिसकी ओर किसी राजनीतिक दल के आह्वान पर उसका ध्यान आकर्षित किया जा सके अथवा जिसे सरकार भी आरोपित कर सके। इसके अलावा उसके पास 'बहुमूल्य' मत देने का अधिकार है। इसके साथ ही सरकार को भी अपने को एक आदर्श नियोक्ता सिद्ध करना पड़ता है। जबकि रूस में अधिक जोखिम उठाए बिना मंत्री तक की आलोचना की जाती है तथा कामगार को हड़ताल करने का कोई अधिकार नहीं है अथवा उसके मत देने के अधिकार का भी अधिक मूल्य नहीं है।

यही द्विविधा समाजवाद और लोकतंत्र के बीच में है जिसका निराकरण किसी न किसी दिन करना ही होगा और यह श्रेयस्कर है कि इसका निराकरण जल्दी से जल्दी कर लिया गया। वे जितनी जल्दी यह महसूस कर लें कि हमारी लोकतांत्रिक पद्धति में सर्वसत्तात्मक योजना निश्चय ही असफल हो जायेगी, तो यह हमारे देश के लिए उतना ही बेहतर होगा। स्वतंत्र दल ने 1960 में अपने चुनाव घोषणा-पत्र में यह कहकर शुद्ध हिमायती रुख व्यक्त नहीं किया है कि "भारत में जहां शासक दल ने शपथपूर्वक एक ओर मुक्त बाजार की अर्थव्यवस्था को अस्वीकारा है वहीं दूसरी ओर वह सर्वसत्तात्मक तानाशाही के लिए भी उपयुक्त नहीं है तथा इन दोनों के अधर में लटके रहने का भय है।"

यदि इस द्विविधा का निराकरण समाजवाद के परंपरावादी ढंग अथवा रूसी विचारधारा के आधार पर करना है तो इसका परिणाम संतोषप्रद नहीं होगा। विस्तृत विवेचन किए बिना ही हम यह कह सकते हैं कि "विदेश से खरीदे गए संपूर्ण नए कारखानों में भी रूस में उत्पादकता उन्हीं के समान विदेशों में स्थित कारखानों से अपेक्षाकृत कम है जबकि विदेशों के समान उत्पादन की उपलब्धि के लिए 8 गुने कामगार उन कारखानों में काम पर लगाए जाते हैं।"

कई वर्ष पूर्व अर्थशास्त्री वाई० एल० मेनविच को यह पता लगा कि "रूस के अधिकांश संयंत्रों में बड़े-बड़े पूंजीवादी देशों में लगे वैसे ही संयंत्रों की तुलना में 30 से 50 प्रतिशत अधिक कामगार काम पर लगाए जाते हैं। जापान और पश्चिमी जर्मनी में नई मशीनों को विकसित और उत्पन्न करने के लिए हमारी तुलना में केवल 1/4 से लेकर 1/3 तक डिजाइन करने वाले और शोधकर्ता लगाए जाते हैं।" उन्होंने यह भी कहा कि सर्वेक्षणों से यह पता लगा है कि वहां कामगार औसतन वस्तुतः अपने काम पर लगे हुए कुल मजदूरी वाले समय के 'केवल 50 से 70 प्रतिशत, समय में ही काम करते हैं।

मास्को के अपने ही आंकड़ों के अनुसार रूस प्रति सौ मूल कामगारों के लिए 80 सहायकों का उपयोग करते हैं जबकि अमरीका में प्रति सौ कामगारों के लिए केवल 38 सहायकों का ही उपयोग किया जाता है। और रूस में सहायकों की उत्पादकता अमरीका के सहायकों की उत्पादकता की तुलना में केवल एक-चौथाई है।[4]

फिर भी अन्य कारण है जो, विशेषतया हमारे देश की दशाओं में, समाजवादियों की विचार-परिधि में आता है। मुख्यतया जैसा कि बर्मा, श्रीलंका और चिली[5] में है जहां सभी बड़े उद्योग और सार्वजनिक सेवाओं को अधिकार में ले लिया गया है, और जहां निजी कारखाने के स्वामी अथवा पूंजीवादी गायब हो गए हैं, वहां सरकार के आर्थिक मामलों में अधिकारी-तंत्र को ही उत्तेजित कामगारों और उपभोक्ताओं का सामना करना पड़ता है। प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी ने 1 फरवरी, 1973 को दिल्ली में अपने दल के कार्यकर्ताओं को बताया कि राष्ट्रीयकरण सभी रोगों के लिए रामबाण नहीं है। "प्रारम्भ में किसी भी विशेष क्षेत्रक को अधिकार में लेने पर जनता ने बधाई-संदेश भेजे; और बाद में उन्होंने अपनी मांगें प्रेषित करना शुरू कर दिया।"

इससे यह विदित होगा कि राष्ट्रीयकरण की कोई भी कसौटी नहीं है। सभी प्रकार के उद्योग अधिकार में लिए जा चुके हैं। यहां तक कि 100 से अधिक कपड़ा मिलें हाथ में ली गई हैं, जिन्हें रुग्ण अथवा दिवालिया समझा गया है। खनन उद्योग का भी राष्ट्रीयकरण किया गया, क्योंकि इसमें प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग होता है लेकिन प्रत्येक उद्योग में प्राकृतिक संसाधन के रूप में नदियों के जल का भी तो उपयोग होता है। यह किसी को भी पता नहीं है कि 'अर्थव्यवस्था के सबसे ऊंचे लक्ष्य' क्या हैं, जिन्हें नेहरू और उनकी पुत्री ने प्राप्त करने का बीड़ा उठाया है।

'उच्च लक्ष्य की उपलब्धि' के तर्क के अलावा नेहरू ने प्रायः सभी 'आधारभूत' उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्रक में लिए जाने की वांछनीयता के संबंध में चर्चा की है लेकिन उन्होंने इस बात की कभी भी व्याख्या नहीं की कि 'आधारभूत' का क्या अर्थ है।

प्रो० पी० टी० बौयेर के अनुसार 'आधारभूत उद्योगों की संकल्पना कहने में उन रेल की पटरियों की तरह है जिन पर अर्थव्यवस्था के पहिए चलते हैं, लेकिन यह बात बिलकुल ही निराधार है। वास्तविक जीवन में इस प्रकार का कोई भी उद्योग नहीं है। जब कोई बालक बड़ा होकर आदमी बनता है, तो उसका विकास चहुंमुखी और एक साथ ही हुआ करता है। विकास की इस प्रक्रिया में शरीर के 'मूल अंग' किन्हीं अन्य अंगों की अपेक्षा अथवा शरीर के शेष भाग की अपेक्षा प्राथ-

4. 'स्ट्रगल अगेंस्ट हिस्ट्री', पृष्ठ 94.
5. चिली में लोकतांत्रिक समाजवाद 11 सितम्बर, 1973 को पतन के दर्द से कराह उठा, जब डॉ० अलैंडे की शासन सत्ता का तख्ता सैन्य जुन्टा द्वारा पलट दिया गया। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि स्वयं हमारी प्रधान मंत्री ने 14-15 सितम्बर को नई दिल्ली में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सत्र में जो भाषण दिया, उसमें चिली और भारत के मध्य एक जैसी स्थिति पर ध्यान आकर्षित किया है।

मिकता से आगे नहीं बढ़ते।

जब अर्थव्यवस्था के किसी क्षेत्रक में लगातार अभाव नजर आते हैं—चाहे यह अभाव विनिमय-नियंत्रण अथवा निवेश-नियंत्रण के कारण ही क्यों न हों, तब संबंधित उद्योग किसी अर्थ में अस्थायी रूप से 'मूल उद्योग' हो जाता है और इससे अन्य निर्भर उद्योगों की प्रगति में अवरोध हो जाता है और यह स्थिति उस समय तक बनी रहती है जब तक कि प्रतिस्थापनों के प्रयोग, बढ़ते हुए घरेलू उत्पादन अथवा आयातों द्वारा अभावों को दूर न कर दिया जाए।

मूलभूत उद्योग रोजगार और आय के बड़े स्रोत होने के अर्थ में हर समय एक जैसे ही उद्योग नहीं रह पाते। इस प्रकार प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व अमरीका में कृषि मूल उद्योग था लेकिन इसके बाद विनिर्माण करने वाले उद्योग आधारभूत उद्योग बन गए और इसके बाद इंजीनियरी से संबंधित उद्योगों ने मूल उद्योग का स्थान प्राप्त कर लिया। यह कौन बता सकता है कि 21वीं शताब्दी में अमरीका में मूल उद्योग क्या होगा। इस समय भारत में मूल उद्योग कृषि है, न कि इस्पात।

वैयक्तिक उद्योगों और उत्पादनों के क्षेत्रकों में प्रकार्यात्मक परस्पर निर्भरता समस्त आर्थिक क्रियाकलाप का आम लक्षण है; यह तथाकथित मूल उद्योगों के लिए ही विशिष्ट नहीं है। ऐसा नहीं है मानो इन उद्योगों का ही अन्तिम उत्पाद अन्य उद्यमों अथवा उत्पादक क्षेत्रकों के कार्य के लिए आधार उपलब्ध करता है। इस प्रकार की परस्पर निर्भरता सभी उत्पादक उद्योगों के लिए वस्तुतः व्यापक रूप से अधिक या कम सही है।

प्रसंगवश, केवल कृषि ही है जो सरकार की स्पर्शिकाओं की पकड़ से बाहर है जबकि यह नहीं कहा जा सकता कि सरकार को इसके लिए कोई इच्छा का अभाव हो। यदि 'समाजवादियों' को मनमानी करने की छूट मिल जाती, तो भारत बहुत पहले ही भूख से मर जाता।

हम यहां संक्षेप में केवल तीन सार्वजनिक उद्यमों, यथा—बैंकिंग, इस्पात और कोयला, की कार्यविधि के बारे में बताना चाहेंगे।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बारे में बहुत कुछ कहा जा चुका है और इसे हमारी जनता विशेषकर निम्न वर्ग के लोगों को वित्तीय संकट से उबारने के लिए रामबाण समझा गया है। श्रीमती गांधी ने यह घोषणा की कि बैंक-राष्ट्रीयकरण एक बड़ा कदम है, जिससे हम 'अर्थव्यवस्था के उच्च लक्ष्य' तक पहुंचने में सफल होंगे। लेकिन दो वर्षों की अवधि में ही तत्कालीन वित्त मंत्री श्री चह्वाण ने लोक सभा में यह स्वीकार किया कि सरकार को बैंकों के राष्ट्रीयकरण से जिन लाभों के प्राप्त करने की आशा थी वे फलीभूत नहीं हो सके हैं। छोटे आदमी को जमानत के बिना ऋण उपलब्ध कराने की बात केवल चन्द्रमा की चमक जैसी सिद्ध हुई है। यह बात जिस किसी को भी प्रशासन का तनिक भी अनुभव है, वह सरलता से पहले ही कह सकता था। इसके विपरीत इन बैंकों की कार्यदक्षता का स्तर भी बहुत अधिक गिर गया है। राष्ट्रीयकरण से कर्मचारियों को केवल एक बात मिली है, अर्थात् कम काम किया जाये और अधिक

वेतन प्राप्त किया जाये ।

20 जुलाई, 1975 को बेंकर्स क्लब को संबोधित करते हुए रिजर्व बैंक के गवर्नर ने यह स्वीकार किया कि "बैंकिंग क्षेत्रक में दी जाने वाली अत्यधिक मजदूरी के प्रसंग में बैंकों द्वारा दी गई ग्राहकों की सेवाओं का स्तर बहुत गिर गया है ।" उन्होंने यूनियनों की असाधारण लड़ाकू प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए कहा, "इस प्रवृत्ति के कारण समयोपरि भत्ते के भुगतानों में चिन्ताजनक वृद्धि हुई है ।" भूतपूर्व वित्त मंत्री श्री वाई० बी० चह्वाण ने 5 अक्टूबर, 1974 को लोकसभा में पहले ही स्वीकार कर लिया था कि ग्राहकों को दी जाने वाली सेवाओं में 'कुछ न कुछ कमी' आ गई है । उन्होंने इससे पूर्व यह भी बता दिया था कि जनवरी से जून, 1973 तक राष्ट्रीयकृत बैंकों के कर्मचारियों को समयोपरि भत्तों के रूप में 4 करोड़ से अधिक राशि का भुगतान किया गया है । बार-बार आंदोलन, काम करने के घण्टों में नारेबाजी और सामान्य कार्य को पूरा करने में प्रबंधकों को सहयोग न देना, इस शोचनीय अवस्था के मुख्य कारण रहे हैं ।

वर्ष 1980 के दौरान राष्ट्रीयकृत बैंकों के कर्मचारियों को दिए गए समयोपरि भत्ते के रूप में 30.8 करोड़ रुपए की भारी राशि का भुगतान किया गया है ।

वर्ष 1972 की रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया की रिपोर्ट के अनुसार राष्ट्रीयकृत बैंकों के व्यय में वृद्धि (59 करोड़ रुपए) बैंकों की आय (58 करोड़ रुपए) से आगे बढ़ गई । 1931 की तुलना में ब्याज और बट्टे से होने वाली आय में वृद्धि की दर अपेक्षाकृत कम रही । 1971 में लाभ के 8.6 करोड़ रुपए से घटकर 7.6 करोड़ रुपए हो जाने से उसमें एक करोड़ रुपए की कमी हुई ।

3 मार्च, 1981 को राज्य सभा के विरोधी दलों के सदस्यों ने आरोप लगाया था कि राष्ट्रीयकृत बैंकों ने कतिपय व्यापारियों के पक्ष में अशोध्य ऋण की 50 करोड़ रुपए की राशि बहीखाते में डाल दी है ।

श्री प्रकाश मेहरोत्रा [कांग्रेस (इ) के सदस्य] ने मूल प्रश्न करते हुए यह आरोप लगाया कि बैंक सार्वजनिक निधियों को हड़पने के लिए व्यापारी संस्थाओं के साथ मिलकर काम कर रहे हैं । सदस्यों ने राष्ट्रीयकृत बैंकों में से प्रत्येक बैंक की अशोध्य ऋण वालों की सूची मांगी और यह जानना चाहा कि वे कौन-सी पार्टियां हैं जो ऋण की अदायगी नहीं कर सकी हैं ।

श्री मेहरोत्रा का समर्थन श्री कल्याण राय (सी० पी० आई० सदस्य) ने किया और उन्होंने अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी एसोसियेशन के प्रेस वक्तव्य का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट किया कि बैंकों द्वारा 50 करोड़ रुपए की राशि बट्टे खाते में डाल दी गई है । वे यह जानना चाहते थे कि क्या सरकार ब्रिटिश बैंकिंग संस्थाओं की पद्धति का अनुसरण करना चाहेगी और उन सभी लोगों के नाम प्रकाशित करेगी जो अशोध्य ऋण की सूची के अन्तर्गत आते हैं और उन लोगों के नाम के आगे अदत्त ऋण की राशि लिखकर समाचार-पत्रों में प्रकाशित करेगी ।

वित्त मंत्री श्री वेंकटरमन ने इस आरोप की न तो पुष्टि की और न इन्कार किया

कि 50 करोड़ रुपए की राशि बट्टे खाते में डाल दी गई है। उन्होंने यह बताया कि वर्तमान नियमों के अनुसार बैंक अशोध्य ऋण की राशि, पार्टियों के नाम तथा पते तथा अन्य विवरण नहीं बता सकते।

इस्पात उत्पादन के 'मंदिरों' के संबंध में संघीय सरकार को अधिक स्वाभिमान रहा है। इनके बारे में 20 अगस्त, 1980 को 'स्टेट्समैन' नई दिल्ली की संपादकीय टिप्पणी में कहा गया है :

> "योजना आयोग ने स्थायी तौर पर इस्पात के लिए मांगें बढ़ाई हैं, जिनसे इस्पात उद्योग की दयनीय स्थिति का पता लगता है। इस शताब्दी के छठे दशक में आयोजकों ने यह अनुमान लगाया था कि इस शताब्दी के अंत तक दस करोड़ टन का उत्पादन हो जाएगा। इसके विपरीत इस्पात और खदान के संघीय मंत्री ने यह विचार प्रकट किया कि इस शताब्दी के अन्त तक 2.4 करोड़ टन का उत्पादन आत्मनिर्भर होने के लिए पर्याप्त होगा। एक तीसरे अनुमान के अनुसार, जो पहले अनुमान की अपेक्षा अधिक संगत है, 1990 तक 7 करोड़ टन की आवश्यकता होगी।
>
> "फिर भी वर्तमान संकेत अंधकारपूर्ण हैं। बिजली की कमी, कोयले का अभाव और परिवहन की बाधाएं उन मुख्य अवरोधों में से विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनसे एकीकृत इस्पात संयंत्रों के कार्य में बाधा आई है। इस समय इन संयंत्रों की कुल मिलाकर 1.06 करोड़ टन की उत्पादन क्षमता है। बोकारो और भिलाई के विस्तार के बाद 5 वर्षों में 50 लाख टन की क्षमता बढ़ जाएगी। यदि 35 लाख टन की क्षमता वाली विशाखापट्टनम परियोजना 1985 तक पूरी नहीं हो जाती तो ऐसी संभावनाएं हैं कि बिक्री वाले इस्पात के अधिक आयात करने पड़ेंगे, अथवा मांग पूरी नहीं हो पाएगी। चालू वर्ष में यह आशा की जाती है कि भारत इस्पात प्राधिकरण 500 करोड़ रुपए की कीमत के 14 लाख टन इस्पात का आयात करेगा। यह कीमत अर्थव्यवस्था को इसलिए चुकानी पड़ेगी क्योंकि गत दशाब्दी में स्पात क्षेत्रक में तुलनात्मक रूप से काम करने में लापरवाही की गई है।

1972 में सरकार ने सभी कोकिंग कोयले की खानों को अपने अधिकार में कर लिया था जिससे कोयले के उपभोक्ताओं को और सामान्य रूप से आम जनता को मुसीबत का सामना करना पड़ा। यह मुसीबत कोयले के देर से पहुंचने, भ्रष्टाचार और इस्पात की बढ़ती हुई कीमत, बिजली, रेल-यात्रा और अन्य वस्तुओं तथा सेवाओं के कारण उत्पन्न हुई थी।

शायद राष्ट्रीयकरण का कोई अन्य कार्य अर्थव्यवस्था के लिए इतना अधिक हानिप्रद न रहा हो। कई कारखाने और बिजली से चलने वाले संयंत्र कोयला न मिल पाने के कारण बन्द करने पड़े।

जब कोयले की खानों का राष्ट्रीयकरण किया गया था तो कोयला 35 रुपए

प्रति टन बिक रहा था और वे भी लाभ उठा रहे थे। अब राष्ट्रीयकरण होने के समय से कोकिंग कोयला की पांच गुनी कीमत हो गई है और अन्य कोयले की चार गुनी कीमत हो गई है। इसके फलस्वरूप सरकारी कीमतों की दृष्टि से गैर-कोकिंग और कोकिंग कोयले में क्रमश: 250 प्रतिशत और 150 प्रतिशत की वृद्धि उन कीमतों की तुलना में है जब राष्ट्रीयकरण नहीं किया गया था। इन सभी कीमतों की वृद्धि कोयले के निवेश की बढ़ती को पूर्णतया निष्प्रभावित करने के लिए नहीं किया गया बल्कि लगाई गई पूंजी पर कोल इंडिया लिमिटेड को 10 प्रतिशत लाभ देने के लिए भी कोयले की कीमत में वृद्धि की गई। कोल इण्डिया लिमिटेड ने अधिकृत शेयर पूंजी में 759 करोड़ रुपए की भारी हानि उठाई। जब तक यह पुस्तक प्रकाशित होगी तब तक सरकार ने यह निर्णय कर लिया है कि कोयले की कीमत में लगभग 20 रुपए प्रति टन की वृद्धि कर दी जाए ताकि कोल इण्डिया लिमिटेड को जो कोयले का प्रमुख उत्पादक है, उसे जो हानि हुई है, उसकी प्रतिपूर्ति की जा सके।

1977-78 में कोयला-उत्पादन की लागत 76.64 रुपए प्रति टन थी, जबकि 1978-79 में (मई, 1979 में मजदूरी समझौते के प्रभाव को शामिल न करते हुए) उत्पादन की अस्थायी लागत 85.98 रुपए प्रति टन थी। इस उत्पादन की लागत में मजदूरी का भाग ही 1977-78 में 47.02 रुपए प्रति टन था, जबकि 1978-79 (वृद्धि से पूर्व) में यह 50.27 रुपए प्रति टन था। प्रति वर्ष प्रति कर्मचारी की औसतन कुल उपलब्धियां 1977-78 में 6919.2 रुपए से बढ़कर 1978-79 में 7976 रुपए हो गई। प्रसंगवश, यही बात बहुत से उद्यमों के लिए सही है; जब ये उद्यम निजी स्वामित्व में थे तो लाभ दिखा रहे थे और जैसे ही इनका राष्ट्रीयकरण किया गया तो इन्हीं उद्यमों में हानियां होने लगीं।

25 नवम्बर, 1980 को 'स्टेट्समैन', नई दिल्ली में एक पत्र प्रकाशित किया गया, जो पाठकों के लिए रुचिकर होगा।

लड़खड़ाती हानि

महोदय,

कोल इंडिया लिमिटेड के प्रबंधकों के लिए यह प्रतिष्ठा घटाने वाली बात है कि कम्पनी ने मार्च, 1980 तक कुल मिलाकर 556 करोड़ रुपए की हानि उठाई है। कुल हानि 992 करोड़ रुपए की होगी, जिसमें 196 करोड़ रुपए ब्याज की राशि और 240 करोड़ रुपए मूल्यापकर्ष की राशि (10-11 नवंबर) शामिल की गई हैं। राष्ट्रीयकरण के बाद कोयले की लड़खड़ाती कीमत-वृद्धि के बावजूद यह स्थिति हो गई है। क्या इतनी अधिक हानि का प्रचार करने का अर्थ यह है कि कोयले की कीमतों में अधिक वृद्धि की जाएगी ?

इस तथ्य के बावजूद कि अब कोयला उद्योग को सरकार की असीमित विधियों का पूरा लाभ मिल जाता है, पर्याप्त खनन-मशीनें भी हैं और विकास के लिए काफी साज-सामान भी हैं, कोयला उद्योग के लिए पर्याप्त कामगारों

से कहीं अधिक कामगार हैं और राष्ट्रीयकरण से उन्हें जो मजदूरी दी जाती थी उससे लगभग चौगुनी मजदूरी दी जाती है, और अब इस प्रकार की भी सुविधाएं हैं, कि सरल खुली प्रक्रिया द्वारा खानों में काम करने की सुविधाएं हैं, फिर भी यह बात चकरा देने वाली है कि कोल इण्डिया लिमिटेड को वर्ष-प्रतिवर्ष इतनी अधिक हानि क्यों होती है ।

—भवदीय एम० दास, हावड़ा, 18 नवम्बर ।"

विनिर्माण करने वाले उद्योग बैंकिंग और बीमा के अलावा सरकार ने अन्य कई प्रकार के व्यापार में प्रवेश किया है, यथा—बेकरी, होटल, रेलों में सार्वजनिक रूप से भोजन-व्यवस्था, पाठ्यपुस्तकों का उत्पादन तथा सड़क-परिवहन आदि । इनमें से अधिकांश व्यापार निजी व्यक्तियों द्वारा काफी दक्षता से पहले ही चलाए जाते थे अथवा सरलता से चलाए जा सकते हैं । शायद चाय बागान और सिनेमा सरकार की कार्यसूची में अगली बार आ जायेंगे ।

सरकार ने विदेशी व्यापार अपने हाथ में ले लिया है और इसे पूर्णतया राज्य व्यापार निगम को सौंप दिया है । आंतरिक व्यापार भी नियंत्रित किया जाना है, अथवा राष्ट्रीयकृत[6] किया जाना है यद्यपि इस संबंध में सभी प्रयत्न अभी तक सफल नहीं हो पाए हैं, यथा—अन्न विषयक मामला । प्रो० पी० सी० महालोनोबिस जो पं० नेहरू के योजना संबंधी मामलों के सर्वोच्च सलाहकार रहे हैं, उन्होंने 1958 में मास्को की अध्ययन-यात्रा की और उसके बाद उनके मन में एक प्रतिभापूर्ण विचार आया जो उन्होंने रूस के निवासियों से लिया था । विचार यह था कि सरकार के लिए यह संभव होगा कि अपने देश में गेहूं और अन्य अनाज की वसूली की जाए और उन्हें राज्य व्यापार के माध्यम से 120-130 करोड़ रुपए का वार्षिक लाभ उठाकर बेचा जाए । अलबत्ता यह लाभ पंचवर्षीय योजनाओं के वित्तपोषण के लिए काम में लाया जाएगा । यह विचार सार्वजनिक क्षेत्रक के मताग्रह के रूप में विकसित हुआ और विभिन्न संगठनों में बढ़ने लगा जिनमें राज्य व्यापार निगम (एफ० आई० सी०), जीवन बीमा निगम और अन्य संस्थाएं भी शामिल की गईं । इन संस्थाओं में भी विशेषकर यह विचार कार्यान्वित किया गया, लुकछिप कर जनता पर कर लगाए गए और कीमतें बढ़ाकर तथा जीवन की आवश्यकताओं की अनुपलब्धता से भुखमरी बढ़ी और थोड़ा-थोड़ा करके अन्न का वितरण किया गया ।

अब विनिर्माण से नितांत भिन्न व्यापार में इस बात की आवश्यकता होती है कि लोग तुरंत ही इसका निर्णय करें, जिन्हें उत्पाद और उसके स्थान पर अन्य वस्तुओं के लिए बाजार की दशाओं का गहन ज्ञान हो । इन दोनों ही महत्त्वपूर्ण मामलों में अखंडित सार्वजनिक क्षेत्रक संगठन के वेतनभोगी कर्मचारी निजी व्यापारियों की तुलना में बहुत ही अक्षम दिखाई देते हैं । राज्य व्यापार निगम के काम करने के तरीके

6. देखिए : नागरिक आपूर्ति मंत्री श्री वी० सी० शुक्ला का भाषण, जो उन्होंने नवम्बर, 1980 में राज्य सभा में दिया ।

उत्तरदायित्व के प्रतिनिधान की अनुमति नहीं देते जिसके स्थान पर ही शीघ्र निर्णय करने के लिए आवश्यकता होती है । इसके अलावा यह भी उल्लेखनीय है कि राज्य व्यापार निगम का कोई भी व्यक्ति शीघ्र निर्णय करता है तो यह संभावना भी होती है कि उसका निर्णय गलत ही सिद्ध होगा क्योंकि उसमें उस कौशल का अभाव होता है जिसको प्राप्त करने के लिए निजी व्यापारी वर्षों तक अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए प्रयत्न करता रहता है ।

1 अप्रैल, 1968 को केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक और वाणिज्यिक सार्वजनिक उद्यमों में निवेश की राशि 3,333 करोड़ रुपए थी । उस समय सार्वजनिक क्षेत्रक के ग्रुप में 83 उद्यम थे । 3,333 करोड़ रुपए के कुल निवेश में से ईक्विटी पूंजी 1,633 करोड़ रुपए की थी और दीर्घकालीन ऋण 1,700 करोड़ रुपए के थे । मार्च, 1979 के अंत में निवेश की राशि 15,602 करोड़ रुपए तक पहुंच गई जिसमें 7,801 करोड़ रुपए की राशि ईक्विटी पूंजी और 7,801 करोड़ रुपए की राशि दीर्घकालीन ऋणों की रही । इस निवेश ने 176 उद्यमों के बड़े समूह को संभाल लिया । द्रष्टव्य है कि कुल निवेश के लिए इस अवधि में 10.3 प्रतिशत की चक्रवृद्धि संवृद्धि पर रही ।

दशाब्दी के दौरान निवल जमा की गई परिसम्पत्तियों की वार्षिक चक्रवृद्धि पर संवृद्धि दर 15.5 प्रतिशत रही जिसे देखकर विशेष रूप से ऐसा संकेत होता है कि सार्वजनिक क्षेत्रक में विकास हुआ है । इसी प्रकार कुल लगाई गई पूंजी [चालू परिसम्पत्तियों को लगाकर निवल जमा की गई परिसम्पत्तियां (निवेश और प्रगामी पूंजीगत निर्माण-कार्यों को छोड़कर) और अपेक्षाकृत कम चालू दायित्व को निकालकर] सार्वजनिक उद्यमों में 1968-69 में 3,168 करोड़ रुपए से बढ़कर 1978-79 के अंत तक 14,173 करोड़ रुपए हो गई और इस प्रकार 16.1 प्रतिशत की वार्षिक चक्रवृद्धि संवृद्धि दर रही ।

तालिका 98 (पृ० 358) में प्रथम पंचवर्षीय योजना से लेकर 31 मार्च, 1979 के अंत तक निवेश और कम्पनियों की संख्या दर्शायी गई है ।

1 अप्रैल, 1974 को सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यमों में काम पर लगाए गए व्यक्तियों की संख्या 18.7 लाख थी । केन्द्रीय सरकारी विभागीय उपक्रमों, यथा—रेलवे, डाक और तार तथा रक्षा संस्थापना, में रोजगार और निवेश और इसके साथ ही साथ सड़क परिवहन निगम और बिजली बोर्ड जैसे राज्य क्षेत्र में निवेश और रोजगार को मिलाकर भारतीय अर्थव्यवस्था के सार्वजनिक क्षेत्रक के आकार और महत्व की सही तसवीर मिल सकती है ।

1971-72 तक सार्वजनिक क्षेत्रक निगमों ने सार्वजनिक निवेश संसाधनों का सबसे अधिक भाग अपने काम में लगाया । अप्रैल, 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ होने के समय 29 करोड़ रुपए के कुल निवेश की राशि बढ़कर मार्च, 1972 में 5,052 करोड़ रुपए हो गई लेकिन इनमें वर्ष-प्रतिवर्ष भारी हानि ही होती रही ।

तालिका 98

31 मार्च, 1979 के अंत तक निवेश और कम्पनियों की संख्या

अवधि	कुल निवेश (करोड़ों रुपयों में)	कंपनियों की संख्या
प्रथम योजना के श्रीगणेश होने पर	29	5
दूसरी योजना के श्रीगणेश होने पर	81	21
तीसरी योजना के श्रीगणेश होने पर	953	48
तीसरी योजना की समाप्ति पर (31 मार्च, 1966 तक)	2415	74
31 मार्च, 1967 को	2841	77
31 मार्च, 1968 को	3333	83
31 मार्च, 1969 को	3902	85
31 मार्च, 1970 को	4301	91
31 मार्च, 1971 को	4682	97
31 मार्च, 1972 को	5052	101
31 मार्च, 1973 को	5571	113
31 मार्च, 1974 को	6237	122
31 मार्च, 1975 को	7261	129
31 मार्च, 1976 को	8973	129
31 मार्च, 1977 को	11097	145
31 मार्च, 1978 को	13389*	174
31 मार्च, 1979 को	15602*	176

* अस्थायी आंकड़े

तालिका 99 (पृ० 359) में 1968-69 से लेकर 1978-79 तक के ग्यारह वर्षों की अवधि के आंकड़े दिखाए गए हैं।

69 सार्वजनिक उद्यमों ने वर्ष 1980-81 के प्रथम तिमाही (अर्थात् अप्रैल-जून, 1980) में 136 करोड़ रुपए की हानि दिखाई है और भारतीय इस्पात प्राधिकरण लिमिटेड ने वर्ष 1980-81 के प्रथम छः महीनों में कुल 136.40 करोड़ रुपए की हानि दिखाई है जिससे सार्वजनिक क्षेत्रक की वित्तीय स्थिति अत्यधिक संकटपूर्ण हो गई है।

वर्ष 1975-76 के लिए उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण के अन्तर्गत 71,705 कारखानों का सर्वेक्षण किया गया। इनमें से सार्वजनिक क्षेत्रक के 3,744 कारखाने (5.2 प्रतिशत), संयुक्त क्षेत्रक के 1,307 कारखाने (1.8 प्रतिशत) और निजी क्षेत्रक के 60,539 कारखाने (84.4 प्रतिशत) थे जबकि 'अविशिष्टीकृत' 6,115 कारखाने थे।

तालिका 99

सार्वजनिक उद्यमों से वित्तीय निष्पादन की प्रवृत्तियां

(बीमा कम्पनियों को छोड़कर चालू उद्यम)

	1968-69	1969-70	1970-71	1971-72	1972-73	1973-74	1974-75	1975-76	1976-77	1977-78	1978-79	(कोयले को छोड़कर) 1978-79
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
1. कुल लगाई गई पूंजी जमा परिसम्पत्तियां जिसमें मूल्यापकर्ष घटाकर और चालू पूंजी को जोड़ दिया गया है।	3168	3281	3606	4089	4756	5376	6627	8824	10887	12130	14173	12428
2. चालू उद्यमों द्वारा अर्जित निवल लाभ (कोष्ठकों में उद्यमों की संख्या दिखाई गई है।)	66.07 (41)	72.26 (41)	74.90 (52)	99.65 (58)	104.46 (67)	160.75 (72)	322.34 (81)	255.13 (87)	394.37 (93)	384.85 (81)	484.75 (88)	484.75 (88)

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
3. चालू उद्यमों द्वारा की गई निवल हानि (कोष्ठकों में उद्यमों की दिखाई संख्या गई है।)	94.20 (32)	75.66 (32)	78.28 (35)	118.61 (35)	86.72 (34)	96.33 (42)	138.79 (39)	126.02 (34)	210.48 (56)	475.92 (73)	516.71 (69)	304.55 (64)
4. कर के बाद कुल निवल लाभ (कोष्ठकों में उद्यमों की संख्या दिखाई गई है।)	—28.13 (73)	—3.40 (73)	—3.38 (87)	—18.96 (93)	17.64 (101)	64.92 (114)	183.55 (120)	29.11 (121)	183.89 (149)	—91.07 *(155)	—31.96 †(159)	180.20 (154)
5. रोजगार (लाखों में)	—	—	—	—	—	—	14.08	15.05	15.75	16.38	18.71	—

स्रोत : 1 से 4 मदों के लिए सार्वजनिक उद्यम सर्वेक्षण, 1978-79 (खंड 1) पृष्ठ 2, मद 5; आर्थिक सर्वेक्षण, 1979-80.

* केन्द्रीय खनन योजना एवं डिजाइन संस्थान को छोड़कर, जिसमें वर्ष 1977-78 में न तो लाभ दिखाया है न हानि।

† केन्द्रीय खनन योजना एवं डिजाइन संस्थान को छोड़कर, जो 1978-79 में ही बन्द हो गया।

इसके अलावा, केन्द्रीय मत्स्य निगम ने, जो दिवालिया होने की प्रक्रिया में था, अपने लेखों को संकलित नहीं किया है।

सार्वजनिक क्षेत्रक के कारखाने कुल कारखानों के केवल 5.2 प्रतिशत थे और उनमें कुल जमा पूंजी का सबसे अधिक भाग (57.7 प्रतिशत) लगाया गया। इन कारखानों में 15 लाख व्यक्ति (23.4 प्रतिशत) काम पर लगाए गए और इन कारखानों ने 6,270 करोड़ रुपए के मूल्य का उत्पादन (21.0 प्रतिशत) किया। राष्ट्रीय आय में उनका अंशदान 1,677 करोड़ रुपए (26.3 प्रतिशत) रहा।

निजी क्षेत्रक के लिए जमा पूंजी, रोजगार और मूल्य के आंकड़े क्रमश: 35 प्रतिशत, 71 प्रतिशत और 68 प्रतिशत रहे।

तालिका 100 के अनुसार जमा पूंजी : सार्वजनिक क्षेत्रक के कारखानों में बढ़ाए गए मूल्य का अनुपात 4.83 था जबकि इसकी तुलना में निजी क्षेत्रक के कारखानों में 1.13 रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि निजी क्षेत्रक के कारखानों में लगाई गई पूंजी के लाभ की दर सार्वजनिक क्षेत्रक के कारखानों की अपेक्षा चार गुनी (0.25) रही जबकि सार्वजनिक क्षेत्रक के कारखानों में लाभ की दर 0.06 रही :

तालिका 100

1975-76 में उद्योग का वार्षिक सर्वेक्षण :

स्वामित्व की दृष्टि से संरचनात्मक अनुपात—अखिल भारतीय

स्वामित्व का प्रकार	प्रति कर्मचारी की दर से पूंजी	प्रति कर्मचारी की दर से बढ़ाया गया मूल्य	स्थायी पूंजी उत्पादन अनुपात	स्थायी पूंजी मूल्य वृद्धि	उत्पादक पूंजी अनुपात अथवा पूंजी के लाभ की दर
सार्वजनिक क्षेत्रक	54311	11256	1.29	4.83	0.06
संयुक्त क्षेत्रक	23962	10397	0.39	2.30	0.14
निजी क्षेत्रक	10860	9587	0.23	1.13	0.25
कुल	21987	10009	0.47	2 20	0.14

तालिका 101 में जो आंकड़े दिए गए हैं, वे कई वर्षों के आर्थिक सर्वेक्षण के आधार पर निर्धारित किए गए हैं। इस तालिका के अध्ययन से पूर्व इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि 'सार्वजनिक क्षेत्रक' में उन कारखानों को शामिल किया गया है जो पूर्णतया राज्य सरकार के स्वामित्व में हैं। इन कारखानों का स्वामित्व स्वशासन संस्था, केन्द्रीय और राज्य सरकार/स्वशासन संस्था को मिलाकर भी कर लिया जाता है। सर्वेक्षण वर्ष में 'उत्पादन' उत्पादित वस्तुओं का कारखाने के बाहर मूल्य तथा अन्य के लिए की गई कारखाने की सेवाओं के मूल्य को मिलाकर कहलाता है। इसमें अर्धनिर्मित वस्तुओं के निवल मूल्य तथा जिस दशा में वस्तुओं को खरीदा गया है उसी दशा में उन वस्तुओं के बेचने का मूल्य शामिल किया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि 1970-71 में निजी क्षेत्रक की तुलना में स्थायी पूंजी लागत अनुपात सार्वजनिक क्षेत्रक में 8.3 गुना और 1975-76 में 5.6 गुना रहा।

तालिका 101

सार्वजनिक और निजी क्षेत्रकों में स्थायी पूंजी-उत्पादन अनुपात

वर्ष	प्रति कारखाने में स्थायी पूंजी (लाखों रुपए)		प्रति कारखाने में उत्पादित पूंजी (लाखों रुपए)		प्रति कारखाने के कर्मचारी (संख्या)		स्थायी पूंजी की तुलना में उत्पादन अनुपात	
	सार्वजनिक क्षेत्रक	निजी क्षेत्रक	सार्वजनिक क्षेत्रक	निजी क्षेत्रक	सार्वजनिक क्षेत्रक	निजी क्षेत्रक	सार्वजनिक क्षेत्रक	निजी क्षत्रक
1970-71*	346.10	24.73	406.52	39.52	707	267	2.66	0.32
1971-72*	318.76	21.06	381.07	35.27	663	263	2.59	0.29
1973-74	196.35	6.63	244.23	11.62	414	76	2.01	0.24
1974-75	190.47	7.44	254.23	13.10	372	78	1.51	0.21
1975-76	216.18	8.13	281.48	13.93	398	75	1.29	0.23

*1970-71 और 1971-72 के आंकड़ों का संबंध उन कारखानों से है जिनमें पचास या पचास से अधिक कामगारों को काम पर लगाया गया है और जो बिजली का उपयोग करते हैं और वे जो बिजली का उपयोग नहीं करते और जिनकी संख्या 100 या इससे अधिक है उनके संबंध में अपेक्षित सूचना भी उपलब्ध थी।

वर्ष 1974-75 और 1975-76 (सार्वजनिक क्षेत्रक की व्याख्या करते हुए जैसाकि केवल वे कारोबार शामिल किए गए हैं जिनका स्वामित्व केन्द्रीय सरकार के पास है, और 'निजी क्षेत्रक' के अन्तर्गत वे कम्पनियां शामिल हैं जिनकी भुगतान की गई पूंजी एक करोड़ रुपए या इससे अधिक राशि की है) के लिए दोनों क्षेत्रकों के पूंजी-उत्पाद के अनुपात के आंकड़े निम्न तालिका में दिखाए गए हैं :

तालिका 102

दो क्षेत्रकों के पूंजी-उत्पादन का अनुपात

1	2	3	4
		पूंजी उत्पादन अनुपात	
		1974-75	1975-76
निजी क्षेत्रक		0.45 : 1	0.46 : 1
सार्वजनिक क्षेत्रक		0.93 : 1	0.81 : 1
		पूंजी उत्पादन अनुपात (न्यूनाधिक रूप से तुलनात्मक क्षेत्रक)	
		1974-75	1975-76
रसायन	निजी	0.41 : 1	0.34 : 1
	सार्वजनिक	2.77 : 1	3.03 : 1

(क्रमशः)

1	2	3	4
लोहा और इस्पात	निजी	0.68 : 1	0.76 : 1
	सार्वजनिक	2.17 : 1	2.94 : 1
इंजीनियरिंग	निजी	0.47 : 1	0.45 : 1
	सार्वजनिक	1.69 : 1	1.32 : 1
जहाजरानी	निजी	1.47 : 1	1.69 : 1
	सार्वजनिक	2.00 : 1	2.63 : 1
कागज	निजी	0.51 : 1	0.52 : 1
	सार्वजनिक	1.23 : 1	1.18 : 1
सीमेंट	निजी	0.68 : 1	0.50 : 1
	सार्वजनिक	3.71 : 1	3.64 : 1

आगामी विवरण पत्र से किए गए वे निवेश और लाभ परलक्षित होते हैं जो वर्ष 1973-74 से वर्ष 1978-79 में नेशनल टेक्सटाइल कारपोरेशन (होल्डिंग कंपनी) ने किए हैं। इस कारपोरेशन में वे कम्पनियां सम्मिलित की गई हैं जो निजी क्षेत्रक से ली गई हैं :

तालिका 103

अवधि	निवेश (दी गई पूंजी—ऋण)	निवल लाभ
31 मार्च, 1974	25.32	0.32
31 मार्च, 1975 को	79.12	0.38
31 मार्च, 1976 को	176.75	0.44
31 मार्च, 1977 को	249.62	1.27
31 मार्च, 1978 को	322.25*	0.69
31 मार्च, 1979 को	399.05	1.87

*अस्थायी

श्री एम० वी० कामथ के द्वारा एक साक्षात्कार के दौरान पूछे गये इस प्रश्न के उत्तर में कि अधिकांश सार्वजनिक क्षेत्रक की परियोजनाएं भली भांति काम नहीं कर रही हैं और वे वस्तुत: देश की प्रगति में अवरोधक हैं। प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा कि "इनमें से कुछ ही परियोजनाएं अच्छा काम नहीं कर रही हैं" और उन्होंने यह भी कहा कि 143 में से 75 लाभ उठा रही हैं…।

श्री कामथ ने कहा कि "विशद् विश्लेषण से यह पता लगेगा कि इन 75 में से भी अधिकांश बड़े उद्योग नहीं हैं। इसके अलावा क्या देश इस तथ्य को स्वीकार कर सकेगा कि 68 को भारी हानियां हो रही हैं? सार्वजनिक क्षेत्रक की हानियां (उनके उद्योग मंत्री डॉ० चरनजीत चानना के ही अनुसार) 16,000 करोड़ रुपए की हैं जो पसंगवश हमारे देश में कुल सार्वजनिक क्षेत्रक के निवेश के बराबर हैं।"

दूसरे प्रश्न के उत्तर में कि लाभ बहुत कम रहे और कोई भी उल्लेखनीय लाभ नहीं थे, श्रीमती गांधी ने कहा, "मूल बात लाभ की नहीं है··· हमने लाभों की चिंता करके और इसके फलस्वरूप बहुत कुछ गंवा दिया है।"

श्री कामथ ने इस विचार को सुनते ही जो कहा वह इस प्रकार है :

"सरकार का यह दर्शन है कि मूल बात लाभ नहीं है बल्कि सामाजिक हित चिंतन है और यही दर्शन सार्वजनिक क्षेत्रक के कारोबारों की बर्बादी के लिए अधिकांशतया उत्तरदायी है। समाजवाद के समान ही सामाजिक हित-चिंतन बहुत ही भ्रामक शब्दावली है।

"यह भी देखें कि 'सार्वजनिक उपक्रमों के लोकसभा सचिवालय ने उत्पादन/व्यापार के प्रारंभ किए जाने में देरी, क्षमता का कम उपयोग और तत्सम्बन्धी मामले' पर जो रिपोर्ट प्रकाशित की है उसमें सामाजिक हित-चिंतन के संबंध में प्रदर्शित बहाना केवल झूठ ही है। कोई भी निजी संस्था जो लाभ न दे सके, तुरंत ही बन्द कर दी जाती है। यह कहना कि लाभ की चिंता के लिए ही हानियां उठाई जाती हैं, किसी के भी द्वारा दिया जाने वाला एक आश्चर्यजनक वक्तव्य है, कम-से-कम ऐसा कहना प्रधानमंत्री को तो शोभा नहीं देता।"[7]

सार्वजनिक उद्यमों के ब्यूरो ने 185 विनिर्माण यूनिटों का अध्ययन किया जिनमें से 99 सार्वजनिक उद्यमों के विश्लेषण से यह पता लगा कि वर्ष 1976-77 में 76 यूनिटों ने 75 प्रतिशत से अधिक उत्पादन-क्षमता का उपयोग किया। लेकिन ऐसी यूनिटों की संख्या 1978-79 में कम होकर 62 रह गई।

ऐसी यूनिटों की संख्या जिनका क्षमता-उपयोग 50 प्रतिशत और 75 प्रतिशत के बीच था, 1976-77 में 24 से बढ़कर 1977-78 में 31 हो गई और 1978-79 में 42 हो गई। इसी प्रकार ऐसी यूनिटों की संख्या जिनमें 50 प्रतिशत से कम क्षमता का उपयोग किया गया, 1976-77 में 17 से बढ़कर 1977-78 में 27 और 1978-79 में 42 हो गई।

इस्पात समूह की 6 उत्पादन यूनिटों में से 4 यूनिटों ने 1978-79 में अपेक्षाकृत कम क्षमता का उपयोग किया। दुर्गापुर, राउरकेला और इस्को (आई० आई० एस० सी० ओ०) संयंत्रों के संबंध में पिछले तीन वर्षों में क्षमता उपयोग में कमी का रुख रहा। दुर्गापुर, राउरकेला और इस्को (आई० आई० एस० सी० ओ०) के इस्पात संयंत्रों में 1978-79 में क्षमता के अपेक्षाकृत कम उपयोग के मुख्य कारण ये हैं : राज्य विद्युत तंत्रों से प्रतिबंधित बिजली-आपूर्ति, कोयले की अपर्याप्त आपूर्ति, खराब औद्योगिक संबंध और कामगारों की अनुपस्थिति।

विभिन्न राज्य सरकारों के स्वामित्व अथवा उनके नियंत्रण में सार्वजनिक क्षेत्रक

7. देखिए, 'द इलस्ट्रेटिड वीकली आफ इंडिया', 25 जनवरी, 1981.

के उद्यमों की कार्य-प्रगति की भी इसी प्रकार की कहानी है। उदाहरण-स्वरूप राज्य बिजली बोर्ड सार्वजनिक राजकोष के लिए भारी व्यय की मदें हैं। 18 राज्य बिजली बोर्ड हैं और ये सभी उद्यम हानि उठाकर चलाए जा रहे हैं। वर्ष 1978-79 में कुल 276 करोड़ रुपए की हानि हुई और यह आशा की जाती है कि यह हानि बढ़कर वर्ष 1979-80 में 385 करोड़ रुपए हो जायेगी। वर्ष 1978 से 1983 तक कुल प्रत्याशित हानि का अनुमान 2,523 करोड़ रुपए है। इस बारे में उत्तर प्रदेश की अधुनातन स्थिति को देखकर पाठक को आश्चर्य होगा। 21 अगस्त, 1980 को 'इंडियन एक्सप्रेस' नई दिल्ली में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार स्थिति इस प्रकार है :

> "उत्तर प्रदेश में 54 सरकारी कारोबारों और निगमों ने गत वर्ष की तुलना में लगभग 105 करोड़ रुपए की निवल हानि दिखाई है।
>
> " इन निगमों में कुल राजकीय निवेश 2,150 करोड़ रुपए से अधिक है। 1978-79 में कुल निवेश 1,900 करोड़ रुपए और हानि 95 करोड़ रुपए थी। यह हानि बढ़कर 105 करोड़ रुपए हो गई है और निवेश भी बढ़कर 2,150 करोड़ रुपए हो गया।
>
> "राजकीय बिजली बोर्ड ने लगभग 1.25 करोड़ रुपए की हानि दिखाई है जिसमें गत वित्तीय वर्ष के ब्याज की बकाया राशि भी शामिल है।
>
> " 1,792 करोड़ रुपए का निवेश बोर्ड ने किया है और शेष 350 करोड़ रुपए का निवेश बाकी 53 निगमों में किया गया है।
>
> "इन 54 निगमों में से केवल 7 विनिर्माण यूनिटें, 7 सार्वजनिक उपयोगिताओं और सेवाओं की यूनिटें, 5 वित्तीय संस्थाएं, 11 क्षेत्रीय विकास निकाय और समान संख्या की यूनिटें क्षेत्रक उद्योगों में लगी हुई हैं। इसके अलावा 3 निगम कमजोर वर्गों की सहायता में लगे हुए हैं और 4 यूनिटें गन्ना बीज के विकास के लिए तथा 6 यूनिटें निर्माण और परामर्श-सेवाओं के लिए तत्पर हैं।"

आज हमारे देश में पूंजी-अभाव से ग्रस्त जो अर्थव्यवस्था है उसे देखते हुए क्या किसी भी देश की सरकार वित्तीय संसाधनों को उतना बर्बाद करेगी जितना कि भारत सरकार ने मनमौजी ढंग से उसे बर्बाद किया है ?

सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यमों का घटिया निष्पादन अधिक पूंजी लगाने, बड़ी-बड़ी परियोजनाओं को पूरा करने में देरी, कार्यक्षमता के कम उपयोग और इन सबसे बढ़कर कुप्रबंध तथा भ्रष्टाचार के कारण रहा है।

लेखा बहियों में दर्शाया गया निवेशों का पर्याप्त भाग, जो संबंधित परियोजनाओं और पार्टियों के आधार पर 20 से 40 प्रतिशत तक हो सकता है, भ्रष्ट भुगतानों के जरिये निजी आय में परिवर्तित हो जाता है। इसलिए वास्तविक निवेश जितना

खातों में दिखाया जाता है उससे उतना ही कम हो जाता है जितना कि भ्रष्ट भुगतानों से, जिन्हें 'किक-बैंक्स' कहा जाता है, निकल जाता है।

परियोजनाओं के पूरे किए जाने में देरी के संबंध में यह सत्य है कि कई पूंजी सघन उद्योग निर्माण करने में समय लगाते हैं और उनमें उत्पादन देर से शुरू होता है, फिर भी इन प्रक्रियाओं में हमारे देश में जो समय लगता है वह अनजाने ही बहुत अधिक हो जाता है। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में गोरखपुर उर्वरक कारखाना स्थापित किया गया। उसी प्रकार का एक कारखाना जापान में भी बनाया गया जिसमें केवल तीन वर्ष लगे लेकिन भारत में ऐसे कारखाने के बनाने में नौ वर्ष लग गए।

वास्तविक निवेशों का एक भाग, अर्थात् भ्रष्ट भुगतानों के रूप में निवेशों के एक भाग के बदले जाने के बाद शेष निवेश, व्यर्थ उत्पादन क्षमताओं में गतिहीन हो जाता है। जबकि ये निवेश बेकार रहते हैं तो निवेशों के उन संसाधनों की, जिनसे कि वे बनाए जाते हैं, बर्बादी हो जाती है। उदाहरणार्थ, 1966-69 की तीन वर्षों की अवधि में 20 चुनिंदा सार्वजनिक क्षेत्रक के उपक्रमों में 35 से 55 प्रतिशत तक उत्पादन क्षमताओं का उपयोग न किए जाने का अनुमान है। इस प्रकार देश के कुल निवेश संसाधनों का 60-65 प्रतिशत भाग सार्वजनिक क्षेत्रक द्वारा काम में लाया जाता है और तीन वर्षों की अवधि में ही 21 से 36 प्रतिशत का कुल निवेश बेकार संयंत्रों और साज-सज्जा के रूप में बर्बाद हो जाता है।

जैसा उद्देश्य था उसके अनुसार सार्वजनिक क्षेत्रक ने 'प्रभावशाली उच्चताएं' प्राप्त कर ली हैं लेकिन इससे जनता की नजर में उनकी अकुशलता और कुप्रबंध ही उजागर हुए हैं। इस बात को स्वीकार कर लिया जाए कि सार्वजनिक क्षेत्रक के सभी उपक्रम अकुशल नहीं हैं और इस तथ्य को भी स्वीकार कर लिया जाए कि कई जटिल परियोजनाएं पूंजी-सघन हैं, उनमें उत्पादन की अवधियां दीर्घ होती हैं और उनमें समाज-कल्याण के लिए जितनी राशि व्यय की जानी चाहिए थी शायद उससे अपेक्षाकृत अधिक राशि व्यय की गई है तो भी सार्वजनिक क्षेत्रक का कुल मिलाकर कार्य-निष्पादन वस्तुतः निराशाजनक रहा है। आर्थिक कार्यों के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में लगभग एकाधिकार की परिस्थितियों के पैदा हो जाने से उपभोक्ता पूर्णतया उसकी दया पर निर्भर हो गया है। सार्वजनिक सेवा के स्तर कई उपक्रमों में उतनी तीव्र गति से गिर गए हैं जितनी कि मजदूरी बढ़ी है। कुप्रबंध और लगातार होने वाली हानियों को 'सामाजिक लाभदायकता' का बहाना बनाकर न्यायसंगत मान लिया जाता है लेकिन आज तक यह केवल भ्रामक संकल्पना ही है।

खराब प्रबंध से कच्चे माल और उपसाधनों की बर्बादी, अधिक कर्मचारियों की भर्ती, संयंत्र और साज-सामान का अकुशल ढंग से रख-रखाव हुआ जिसके फलस्वरूप उत्पादन की लागत, गुणवत्ता और मात्रा में विपरीत प्रभाव पड़ा। अधिक कर्मचारियों की भर्ती के केवल दो उदाहरण इस प्रकार हैं : एक इस्पात कारखाने में 27,000 लोगों को काम पर लगाया गया जबकि वहां केवल 7,000 लोगों की आवश्यकता है और कोयले की खानों में लगभग 45,000 जाली अथवा फालतू कामगार

लगे हुए हैं जिनकी एक वर्ष में मजदूरी ही 32 करोड़ रुपए हो जाती है ।

विभिन्न राजनीतिक दलों के साथ ट्रेड यूनियनों के सम्बद्ध होने से खराब श्रम औद्योगिक सम्बन्ध, कामगारों को अनुचित रूप से अधिक पारिश्रमिक का भुगतान, निदेशकों की प्रायः की जाने वाली बदली है, लाभ के अविवेकी और अधिक अप्रसन्नता दायक उद्देश्य, स्वायत्तता का अभाव और इसके साथ ही साथ प्रशासकीय कार्यों में देरी, आन्तरिक संरचना की दुर्बलता तथा कच्चे माल के देने में देरी आदि अनेक कारण हैं जिनके फलस्वरूप लागत बहुत अधिक हो जाती है और उद्यम की क्षमता से कहीं कम उत्पादन होता है ।

इसके अतिरिक्त, हमारे देश के दो लाख से अधिक बैंक अधिकारियों ने अभी हाल ही में यह आरोप लगाया है कि वर्तमान सार्वजनिक क्षेत्रक के बैंकों की संरचना फालतू खर्च की है और ऐसे सभी बैंकों के कार्यों में सभी प्रकार के भ्रष्टाचारों को सुविधा मिल जाती है । उन्होंने यह मांग की है कि 28 बैंकों को आठ या दस बराबर आकार और विस्तार के बैंकों में पुनः परिवर्तित कर दिया जाए और उनके मुख्यालय राज्य की राजधानियों में स्थित किए जाएं ।

यदि कोई व्यक्ति अपनी चादर से अधिक पांव पसारता है तो वह दिवालिया हो जाता है और निजी व्यापार अपनी क्षमता से अधिक चलाया जाता है तो वह भी बंद हो जाता है । भारत सरकार भी अपना व्यापार बढ़ाती जा रही है और अपने साधनों से कहीं अधिक व्यय कर रही है तथा उसे इस बात की कोई चिन्ता भी नहीं है । इसका स्पष्ट रूप से कारण यह है, जैसाकि किसी पत्रकार ने कहा है, "यदि सार्वजनिक निधियों की अधिकांश राशियों को बर्बाद कर दिया जाता है तो इससे किसी भी विशेष व्यक्ति को चोट नहीं लगती, हालांकि यह एक सुरक्षित दांव है क्योंकि इन अन्यायपूर्ण कार्यों के प्रति उत्तरदायी दोषी व्यक्ति अपने कुकृत्यों की आलोचना को सार्वजनिक क्षेत्रक के विरुद्ध पक्षपात कहकर समाप्त कर देते हैं ।"

यदि सार्वजनिक क्षेत्रक के उपक्रम निजी उपक्रम होते तो वे एक ओर सरकार के लिए प्रतिवर्ष करोड़ों रुपए कर के रूप में दे देते और दूसरी ओर उपक्रमों के मालिकों या भागीदारों को करोड़ों रुपए का लाभ पहुंचाते (इस लाभ का काफी अनुपात अर्थ-व्यवस्था में पुनः लगा दिया जाता) । इसके विपरीत, जनता को काफी भुगतान करना पड़ता है । लगभग प्रतिवर्ष इन हानियों को पूरा करने के लिए करोड़ों रुपए का भुगतान किया जाता है । अपनी सरकार की नादानी के ऐसे स्मारकों के प्रति जनता को आदर भाव से भुगतान करने पड़ते हैं जिन्हें जवाहरलाल नेहरू ने किसी समय 'भारत के आधुनिक मन्दिर' कहकर पुकारा था ।

इसके बावजूद वास्तव में शासक दल के सदस्यों और लगभग प्रत्येक विचार-धारा के राजनीतिज्ञों ने राष्ट्रीयकरण के उपायों और सरकारी नियंत्रण को अपने आप में ही क्रांतिकारी उद्देश्य समझा है चाहे वे व्यवहार में कैसे ही क्यों न हों । राज्य सभा में अभी हाल ही में 1 अगस्त, 1980 को यह मांग की गई कि किसानों को लाभकारी कीमतें सुनिश्चित कराने के लिए सरकार अब और दूसरी वस्तुओं का थोक व्यापार

अपने हाथ में ले ले और सस्ती दरों पर आवश्यक वस्तुओं की प्रभावकारी सार्वजनिक वितरण प्रणाली को प्रारंभ किया जाय।

आम आदमी की अपेक्षा भारतीय बुद्धिजीवी और राजनीतिक नेतृत्व ही है जो इस सबके लिए उत्तरदायी है। उन्होंने एक ऐसी राय का वातावरण पैदा कर दिया है जिसमें अनुत्तरदायी लोकप्रियता को आदर प्राप्त हुआ है और आर्थिक औचित्य को 'प्रतिक्रियावादता' और यहां तक कि जनता-विरोधी होने के समान की समझा जाने लगा है। वास्तव में इन उल्टी-सीधी संकल्पनाओं के समर्थन में शिक्षित लोगों का लगभग वही मत है जो कांग्रेस पार्टी की विचारधारा के लिए प्रचलित है।

श्री गिरिलाल जैन ने 3 जनवरी, 1973 के 'टाइम्स आफ इंडिया' में प्रकाशित एक लेख में यह कहा कि "हमारे सभी नीति-निर्माताओं और बुद्धिजीवियों को यह विदित नहीं है कि युद्धोत्तर विकासों ने यह सिद्ध किया है कि अधिक उत्पादन और मंदी के संकट मुक्त उद्यम अथवा मिश्रित अर्थव्यवस्था की प्रणाली के अन्तर्गत आवश्यक नहीं है और कुल निवल उत्पाद की वार्षिक वृद्धि को देखते हुए साम्यवादी आर्थिक प्रणाली न तो अधिक कुशल है और न अधिक अभिनव परिवर्तनशील है और अमरीका, जापान और पश्चिमी यूरोप के देशों ने रूस से बढ़कर कई क्षेत्रों में अपनी तकनीकी प्रमुखता ही नहीं रखी है बल्कि उसको बहुत बढ़ाया है जिससे क्रेमलिन के लोग अब इतने चिंतित हैं कि वे उनकी पूंजी, तकनीकी जानकारी और बाजारों तक अपनी पहुंच बढ़ाने को उत्सुक हो रहे हैं। लेकिन जो लोग इन तथ्यों को जानते हैं वे भी किसी कारणवश इन तथ्यों को प्रकट करने में झिझकते हैं और उन नारों को अपना योगदान देते हैं जो चौथे दशक में ही संगत थे, जिस समय पश्चिमी देशों में मंदी और बड़े पैमाने पर बेरोजगारी फैली हुई थी।

वास्तव में जहां कहीं भी इसका प्रयोग किया गया, अर्थव्यवस्था का केन्द्रीय नियंत्रण असफल ही हुआ। राष्ट्रीयकरण को बहुत पहले ब्रिटेन की लेबर पार्टी ने समाजवाद की आधारशिला के रूप में स्वीकार किया था। लेकिन जब छठी दशाब्दी के मध्य में यह पता लगा कि बड़े-बड़े उद्योगों की समस्याएं वास्तव में एक जैसी हैं चाहे उन उद्योगों पर सार्वजनिक स्वामित्व हो या निजी स्वामित्व, तो राष्ट्रीयकरण के उत्साही लोगों का अधिक उत्साह समाप्त हो गया। धीरे-धीरे यह दिखने लगा कि उत्पादनशील परिसम्पत्तियों के स्वामित्व और नियंत्रण के रूप में केवल औपचारिक परिवर्तन कर देने से ही ऐसा नहीं हो सकता कि देश में अधिक वस्तुओं का उत्पादन हो सके और अपेक्षाकृत अधिक रोजगार पैदा हो सकें और यह कि सार्वजनिक कारोबार निजी उद्यम यूनिटों के समान ही दुर्गुणों में जकड़ सकते हैं और कभी-कभी ये दुर्गुण अपेक्षाकृत अधिक बुरे होते हैं। इसलिए और अधिक राष्ट्रीयकरण का विचार न केवल ग्रेट ब्रिटेन में बल्कि अन्य देशों, यथा—पश्चिमी जर्मनी और जापान में भी उत्तरोत्तर अलोकप्रिय होता जा रहा है, जहां समाजवादी अपने सिद्धांत और व्यवहार में संशोधन कर रहे हैं।

जबकि भारत में भारी उद्योग में स्थायी निवेश में सार्वजनिक उद्यम का भाग

कुल के 50 प्रतिशत से अधिक है तो इस प्रकार की सूचना से यह विदित होता है कि इंगलैंड के कुल उत्पाद में सार्वजनिक उद्यम का भाग लगभग 10 प्रतिशत है और स्थायी निवेश का भाग लगभग 15 प्रतिशत है। पश्चिमी यूरोप के अन्य भागों की स्थिति को देखते हुए शायद यह कहना ठीक है कि ब्रिटेन की तुलना में स्वीडन में सार्वजनिक उद्यम का अनुपात अपेक्षाकृत कुछ कम है और आस्ट्रिया में अपेक्षाकृत अधिक है।

राष्ट्रीय हित की स्पष्ट रूप से यह मांग है कि उन परियोजनाओं और उद्यमों को छोड़कर जो अव-संरचना का निर्माण करते हैं, यथा—सड़कें, रेलें, सिंचाई, आणविक शोध और नाभिकीय ऊर्जा और अन्य कुछेक उद्योग जो राष्ट्रीय सुरक्षा के हितों के द्वारा जुड़े हैं, उन पर केवल सरकार का ही स्वामित्व होना चाहिए और अन्य ऐसे उद्यम, जिनके उत्पादन की अवधि बहुत अधिक होती है जिनमें भारी निवेश किया जाता है और उत्पादन बहुत कम होता है उनमें निजी क्षेत्रक निवेश करना पसंद नहीं करेंगे, उन्हें भी सरकार के स्वामित्व में होना चाहिए। ऐसे सभी पूंजी सघन उद्योगों, जिन्हें हम आवश्यक रूप से रखना चाहते हैं, को सामान्य नियम के अनुसार निजी क्षेत्रक में स्थापित किए जाने अथवा चलाए जाने की अनुमति दे देनी चाहिए किन्तु शर्त यह है कि सरकार के नियम और नियंत्रण के अधीन जांच-पड़ताल की जाती रहे।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि (क) भविष्य में बहुत ही असाधारण मामलों को छोड़कर कोई भी उद्योग सार्वजनिक क्षेत्रक द्वारा न तो लिया जाना चाहिए अथवा न उस क्षेत्रक में स्थापित किया जाना चाहिए; (ख) अव-संरचना की परिभाषा के अन्तर्गत आने वाले उद्योगों के सिवाय अन्य उद्योग जिनसे कि लाभ नहीं हो रहा है और जिनसे तर्क-सम्मत लाभ होने की कोई संभावना नहीं है उन्हें निजी उद्यमकर्ताओं के हाथ बेच देना चाहिए और यदि कोई भी खरीदार आगे न आए तो ऐसे उद्योगों को बिल्कुल ही बन्द कर देना चाहिए; और (ग) 'रुग्ण' उद्योग जिनका प्रबंध सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है, उन्हें शीघ्र ही छोड़ देना चाहिए या उनके मालिकों को लौटा देना चाहिए।

चूंकि अधिकांश सार्वजनिक क्षेत्रक की यूनिटें लगातार हानि उठाती रही हैं, अतः सार्वजनिक उद्यमों के ब्यूरो ने स्वयं अप्रैल, 1979 में यह सुझाव दिया है कि ऐसे 10 सरकारी स्वामित्व वाले उद्यमों को निजी क्षेत्रक को बेच देना चाहिये जिनमें दशाब्दियों से भारी हानि हो रही है। इस ब्यूरो ने यह भी सुझाव दिया है कि अन्य तीन उद्यमों को इन्हीं कारणों से शीघ्र ही बंद कर देना चाहिए। इन ब्यूरो ने अन्य 15 यूनिटों के दिवालिया होने के औचित्य और वांछनीयता की ओर संकेत किया है यद्यपि इस ब्यूरो ने यह भी बताया है कि खरीदारों को पाना बहुत मुश्किल काम है, यदि उन्हें कुल मिलाकर एक बार में ही नीलाम किया जाय, लेकिन कांग्रेस (इ) के जनवरी, 1980 में सत्ता में आने के बाद ही परिवर्तन की एक नई लहर दौड़ पड़ी है।

फेडरेशन ऑफ इंडियन चैंबर ऑफ कामर्स एण्ड इंडस्ट्री के अध्यक्ष श्री एच० एस० सिंहानिया ने अप्रैल, 1980 में कहा कि निजी क्षेत्रक अपनी गतिशलीता और लचीलेपन के कारण इस स्थिति में हैं कि उन सभी सार्वजनिक उद्योगों के प्रबंध को

अपने हाथ में ले सकते हैं, जो मूल प्रबंधकीय अकुशलताओं के कारण रुग्ण हैं और हानियां उठा रहे हैं।

इस संबंध में हम जापान का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं जहां लगभग एक शताब्दी पूर्व बड़े पैमाने के उद्योग सरकारी उद्यमों के रूप में प्रारम्भ किए गए थे। लेकिन कुछ वर्षों में ही ये उद्योग सरकार और उसकी नौकरशाही की क्षमता से बाहर हो गए। 1880 के बाद अर्थात् पश्चिमीकरण के प्रारम्भ के कुछ दर्जन वर्षों के बाद ही उन उद्यमों को निजी उद्यमकर्त्ताओं के हाथ बेच दिया गया जिसका मुख्य कारण यह था कि सरकार ने उनके चलाने में अधिक धन की हानि उठाई थी, और इस कदम से वे उद्योग—और जापान—वस्तुत: उन्नति करने लगे।

भारत में भी 1972 और 1973 में उत्तर प्रदेश सरकार ने अपने कुछेक अकुशल बिजलीघरों को नीलामी द्वारा निजी नागरिकों के हाथ बेच दिया। दो वर्ष बाद बिहार सरकार के मंत्रिमंडल ने भी यह निर्णय किया कि उन 25 छोटे उद्योगों को बंद कर देना चाहिए जो राज्य सरकार के स्वामित्व में हैं क्योंकि वे बराबर हानि उठाकर चलाए जा रहे हैं। वे छोटे उद्योगपतियों को बेचे जाने थे। (देखिए, 'द टाइम्स आफ इण्डिया', नई दिल्ली, 28 नवम्बर, 1975) इसके अलावा यह भी तय किया गया कि 'रुग्ण' यूनिटें जिन्हें सरकार ने प्रबंध के लिए अपने हाथ में ले लिया था, उनके मालिकों को शीघ्र ही सौंप दी जायें या वापिस कर दी जाएं।

'द हिन्दुस्तान टाइम्स', 23 अप्रैल, 1979 से लिया गया निम्न उद्धरण यह दर्शाता है कि दो साम्यवादी देशों में से एक देश—चीन—ने इस स्थिति के प्रति कैसी प्रतिक्रिया प्रकट की है:

चीन ने रुग्ण संयन्त्रों को बंद कर दिया है

(हिन्दुस्तान टाइम्स के लिए विशेष समाचार)

> चीन सैकड़ों निर्माण-परियोजनाओं को रोक रहा है और कई अलाभकारी फैक्टरियों को बंद कर रहा है क्योंकि सरकार अपनी आधुनिक योजनाओं में समायोजन कर रही है। इस प्रकार की कटौतियां गत वर्षों में फिजूल और अकुशल योजना के कारण हुई हैं और इसके साथ ही साथ औद्योगिक विकास के लिए आजकल निधियों की भी कमी है।
>
> कृषि और हल्के उद्योग कोयला, खनन, बिजली और तेल को लोहा और इस्पात के निवेश के नाम पर सर्वोच्च प्राथमिकताएं दी जा रही हैं और लोहे तथा इस्पात के खर्चे को घटाया जा रहा है। पर्यटन और निर्यात के लिए उत्पादन करने वाले कारखानों को भी विशेष प्राथमिकता दी जा रही है। सरकार ने आदेश दिए हैं कि ऐसे उद्यमों को या तो बंद कर दिया जाए या आपस में मिला दिया जाए, जो वर्षों से धन की हानि कर रहे हैं, या उन कच्चे माल के स्थानों से बहुत दूर हैं, जिनकी उन्हें आवश्यकता होती है।

कम्युनिस्ट पार्टी के समाचार-पत्र 'पीपुल्स डेली' में कहा गया है :

यह आवश्यक है कि ऐसे कारखानों को बंद कर देना चाहिए या उन्हें आपस में मिला देना चाहिए या उनके निर्माण को रद्द कर देना चाहिए या उनके निर्माण को आस्थगित कर देना चाहिए जिन तक परिवहन के साधन सुलभ नहीं हैं और जिनके लिए ईंधन, बिजली, जल और कच्चे माल की आपूर्ति की कोई गारंटी नहीं ली जा सकती। ऐसे उद्योग जो भारी प्रदूषण उत्पन्न करते हैं अथवा जिनमें अधिक लागत लगाकर उत्पादन किया जाता है वे भी इसी वर्ग में आते हैं।

इस समाचार-पत्र में इस बात पर विशेष बल दिया गया कि कृषि पर अपेक्षाकृत अधिक निवेश किया जाना चाहिए। यह भी कहा गया कि अन्न-उत्पादन पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, जितना ध्यान दिया जाना चाहिए था यद्यपि इसके महत्त्व पर अधिक चर्चा की गई है।

'पीपुल्स डेली' में ऐसी नीतियों की आलोचना की गई है जो 'माओ युग' की गत दो दशाब्दियों में रही हैं। इस समाचार-पत्र में कहा गया है : "गत बीस वर्षों में कृषि के विकास की गति बहुत धीमी रही है, जिसका मुख्य कारण यह है कि अधिक समय तक राजनीतिक अस्थिरता बनी रही और उद्देश्यपरक आर्थिक नियमों के अनुसार उत्पादन करने का मार्गदर्शन असफल रहा है।"

इस समाचार-पत्र में यह भी कहा गया है कि लोगों को राष्ट्रीय आधुनिकी-करण के कार्यक्रमों के लिए अपने लाभ को देखने की योग्यता हासिल करनी चाहिए। इस समाचार-पत्र में यह भी कहा गया कि, "जनता के लिए तात्का-लिक भौतिक लाभों को उपलब्ध किया जाना चाहिए और यही एक ऐसा उपाय है जिसमें वे देश के आधुनिकीकरण का हितचिंतन करेंगे अथवा उत्पादकता बढ़ाने के लिए अपेक्षाकृत अधिक कठोर परिश्रम करने के लिए इच्छुक होंगे।"

न्यू चाइना न्यूज एजेंसी ने शंघाई प्रांत के लोहे के निर्माण कार्यों के मामले को उद्धृत किया है, जिसमें पिछले आठ वर्षों में निर्माण हेतु 21,00,000 डालर की लागत लगी है लेकिन उसमें अभी केवल छोटी ब्लास्ट भट्टी और छोटी रोलिंग मिल ही बन पायी हैं। इसके लिए कई सौ मील दूर से कोक और कच्चा लोहा लाया जाता है और इस प्लांट को चलाने में 70,00,000 पौंड की उल्लेखनीय हानि हुई है।

('डेली टेलीग्राफ', लंदन के सौजन्य से)

12

विदेशी ऋण

वर्तमान निजी उद्योग के राष्ट्रीयकरण के साथ भारी उद्योग की स्थापना के कारण विदेशी ऋण का भार अत्यधिक हो गया है। भारत की स्वतंत्रता के समय ब्रिटेन ने रिजर्व बैंक में 1,180 करोड़ रुपए के मूल्य का सोना, सिक्का और बुलियन तथा 1,733 करोड़ रुपए का स्टर्लिंग शेष और 425 करोड़ रुपए का युद्ध से पूर्व देश प्रत्यावर्तित ऋण तथा 115 करोड़ रुपए का एम्पायर डालर पूल अर्थात् कुल 3,452 करोड़ रुपए छोड़े थे। लेकिन आज जब निर्यात की मात्रा अधिक बढ़ गई है और विदेशी शासकों के अनुसरण हेतु प्रेषण बन्द हो चुके हैं तब भी भारत स्वतंत्रता के बाद सर्वोच्च ऋणी देश हो गया है।

1950-51 तक ब्रिटिश शासकों ने जो जमा राशि हमारे खाते में छोड़ी थी, वह समाप्त कर दी गई है और हम पर 32 करोड़ रुपए का विदेशी ऋण हो गया है। तालिका 104 (पृ० 373) में यह दिखाया गया है कि बाह्य सहायता जो हमने 1951-79 की अवधि में मांगी और प्राप्त की, वह राशि 19,231.6 करोड़ रुपए थी और इसमें 9.7% सीधा अनुदान है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इसमें रूस से 1972-73[1] में लिए गए 20 लाख टन गेहूं की राशि, ईरान से आयात किए गए तेल के एक भाग को वित्तपोषित करने हेतु आरक्षित ऋण और 1,664 करोड़ के पीएल-480 के बड़े ऋण की राशि जो 1974 में अमरीका द्वारा बहीखाते में डाल दी गई थी, शामिल नहीं की गई है। इस बड़ी राशि में से मार्च, 1979 तक ऋणदाताओं को 7,883.7 करोड़ रुपये की राशि लौटा दी गई—इस राशि में से मूलधन के रूप में 5,097 3 करोड़ रुपये और ब्याज के रूप में 2,786.4 करोड़ रुपये की राशि लौटाई गई, जैसा कि आगामी तालिका में दिखाया गया है।

1. तथापि यह ऋण 1979-80 में वस्तुओं के रूप में लौटा दिया जाता है, जैसी कि शर्त थी।

तालिका 104

बाह्य सहायता में अनुदानों और संयुक्त ऋणों का भाग

(करोड़ों रुपए)

अवधि	कुल बाह्य सहायता	कुल सहायता में अनुदान का भाग (प्रतिशतता)	कुल सहायता में ऋण का भाग (प्रतिशतता)
तीसरी योजना के अंत तक	4508.8	7.5	39.1
1966-67	1131.4	8.6	16.2
1967-68	1195.6	5.1	21.2
1968-69	902.6	7.2	17.3
1969-70	856.3	3.0	22.9
1970-71	791.4	5.5	20.3
1971-72	834.1	6.1	21.3
1972-73	666.2	1.8	41.7
1973-74	1035.7	2.4	52.1
1974-75	1314.3	7.0	48.5
1975-76	1840.5	15.4	46.5
1976-77	1598.9	15.4	55.4
1977-78	1290.0	20.2	22.4
1978-79	1265.8	21.6	24.2
कुल	19231.6	9.7	34.3

स्रोत : 'इकनॉमिक सर्वे', 1979-80, तालिका 7.4.

* आई॰ बी॰ आर॰ डी॰, स्वीडन, संयुक्त राज्य अमरीका और पश्चिमी जर्मनी से प्राप्त ऋण-सहायता ही प्रमुख रूप से समाविष्ट की गई है।

टिप्पणी : विदेशी मुद्राओं में दी गई धन-राशियों को अवमूल्यन के पश्चात विनिमय-दर में 1970-71 वर्ष तक परिवर्तित कर लिया गया है। (एक डालर=7.50 रुपए)। वर्ष 1971-72 के लिए मई, 1971 से पूर्व की विनिमय-दरें रुपयों में बदलने के लिए अपनाई गई हैं। वर्ष 1972-73 के लिए जो रुपयों के आंकड़े दिए गए हैं वे केन्द्रीय दरों पर आधारित हैं जोकि दिसंबर, 1971 में मुद्रा-सर्वेक्षण के समय के तुरंत बाद विद्यमान थे। वर्ष 1973-74 के लिए प्रत्येक दाता देश की मुद्रा को रुपए की विनिमय-दर के त्रैमासिक औसत के साथ उपयोग के संबंध में त्रैमासिक आंकड़ों के साथ अनुप्रयुक्त किया गया है ताकि रुपयों में आंकड़े निकाले जा सकें। 1974-75 के लिए प्रयुक्त आंकड़े उन चालू दरों के हिसाब से निकाले गए हैं जोकि प्रत्येक दाता देश की मुद्राओं के साथ रुपए की मासिक औसत विनिमय-दर है। 1975-76, 1976-77 और 1977-78 के वर्षों के लिए प्रयुक्त आंकड़े दाता देश की मुद्रा के साथ क्रमशः उन्हीं तिथियों में रुपए की वास्तविक दैनिक दरों पर आधारित हैं।

तालिका 105

बाह्य ऋण सेवा

(करोड़ों रुपए)

अवधि	ऋण अदायगी	ब्याज की अदायगी	कुल ऋण सेवा
1	2	3	4
पहली योजना	10.3	13.5	23.8
दूसरी योजना	55.2	64.2	119.4
तीसरी योजना	305.6	237.0	542.6
1966-67	159.7	114.8	274.5
1967-68	210.7	122.3	333.0
1968-69	236.2	138.8	375.0
1969-70	268.5	144.0	412.5
1970-71	289.5	160.5	450.0
1971-72	299.3	180.0	479.3
1972-73	327.0	180.4	507.4
1973-74	399.9	195.9	595.8
1974-75	411.0	215.0	626.0
1975-76	462.7	224.2	686.9
1976-77	507.4	247.3	754.7
1977-78	560.6	260.1	820.7
1978-79	593.7	288.4	882.1
1979-80*	563.0	295.5	858.5
योग	5660.3	3081.9	8743.2

* अनुमान

टिप्पणी : इन आंकड़ों का संबंध उन भुगतानों से है जो विदेशी विनिमय और वस्तुओं के निर्यात के द्वारा किए गए हैं। रुपयों में परिवर्तन विनिमय की पूर्व अवमूल्यन दर पर (1 डालर= 4.7619 रुपए) पहली तीन योजनाओं के लिए है और 1970-71 तक बाद की योजनाओं के लिए अवमूल्यन के बाद विनिमय की दर (1 डालर=7.50 रुपए) है। वर्ष 1971-72 के लिए मई, 1971 से पूर्व विनिमय की दरें ऋण अदायगी के भुगतान के रुपयों में परिवर्तन करने के लिए रखी गई है; लेकिन केंद्रीय दरें 20 दिसम्बर, 1971 से लेकर 31 मार्च, 1972 तक ब्याज के भुगतानों के लिए समान रुपयों में आकलन करने के लिए प्रयोग में लाई गई हैं। 1972-73 के लिए केंद्रीय दरों का उपयोग किया गया है। 1973-74 के लिए प्रत्येक दाता देश की मुद्रा के साथ रुपए की विनिमय-दर की त्रैमासिक औसत को रुपयों में परिवर्तित आंकड़े निकालने के लिए अनुप्रयुक्त किया गया है। वर्ष 1974-75 के पश्चात मूलधन और ब्याज के भुगतानों के लिए समान रुपए की राशि निकालने के लिए प्रत्येक दाता देश की मुद्रा के साथ रुपए की वास्तविक दैनिक विद्यमान विनिमय-दरों का उपयोग किया गया है।

पाठक को यह विदित होगा कि ऋण-सेवा प्रभार समय बीतने के साथ-साथ बढ़ते जा रहे हैं। हमारे भुगतानों की स्थिति के शेष पर और कुल मिलाकर हमारी अर्थव्यवस्था पर ऋण-सेवाओं के कारण जो बोझ पड़ा है वह आगामी दो तालिकाओं में दिए गए आंकड़ों में सरलता से देखा जा सकता है। इससे यह विदित होगा कि वर्ष 1970, 1971 और 1972 को छोड़कर निर्यात आय के बाह्य सार्वजनिक ऋण पर सेवा भुगतान की प्रतिशतता दक्षिण और पूर्व एशिया के किसी भी देश से वास्तव में सबसे अधिक थी।

तालिका 106

बाह्य ऋण पर सेवा भुगतान

[वस्तुओं के निर्यात की प्रतिशतता और गैर-कारक सेवाओं (क) के रूप में बाह्य सार्वजनिक ऋण पर सेवा भुगतान]

देश	1965	1966	1967	1968	1969	1970	1971	1972
दक्षिण एशिया								
श्रीलंका	2.0	2.8	3.4	7.0	8.6	9.7	11.3	14.3
भारत (ङ)	15.0	21.9	24.8	21.0	33.2	22.5	24.7	24.1
पाकिस्तान (च)	11.0	13.0	17.2	19.6	22.2	24.2	34.0	25.0
पूर्वी एशिया								
इंडोनेशिया	10.3	8.4	5.3	5.6	5.6	7.0	8.8	8.0
कोरिया गणराज्य	2.8	3.8	5.7	7.2	13.3	20.4	20.5	14.2
मलेशिया	1.3	1.4	2.1	2.2	2.2	3.0	2.7	3.0
फिलीपीन्स	5.4	6.4	7.2	5.5	4.6	7.5	6.0	6.8
थाइलैंड	3.7	3.4	3.6	3.8	3.9	3.6	3.3	2.8

स्रोत : इंडिया : पॉकेट बुक ऑफ इकनॉमिक इन्फॉर्मेशन, 1973 और 1974; तालिका 16.13, पृष्ठ 248, 249, 250 और 251.

टिप्पणियां : (क) जहां कहीं भी अन्यथा उल्लेख हो, उसे छोड़कर सभी वस्तुएं, गैर-कारक सेवाएं शामिल की गई हैं। कतिपय देशों के आंकड़ों का अंशत: अनुमान लगाया गया है।

(ङ) राजकोषीय वर्ष के लिए आंकड़े दिए गए हैं।

(च) पाकिस्तान के आंकड़े दिए गए हैं जिनमें 1970 में पूर्वी पाकिस्तान को भी शामिल किया है। 1971 के लिए बंगला देश के आंकड़े दिए गए हैं। 1972 के आंकड़े केवल पाकिस्तान के लिए ही हैं।

तालिका 107

कतिपय प्रमुख देशों की राष्ट्रीय आय की प्रतिशतता के रूप में सार्वजनिक ऋण

देश	1973		1974		1975		1976		1977	
	आंतरिक ऋण	बाह्य ऋण	आंतरिक ऋण	बाह्य ऋण	आंतरिक ऋण	बाह्य ऋण	आंतरिक ऋण	बाह्य ऋण	आंतरिक ऋण	बाह्य ऋण
1. आस्ट्रेलिया	35.6	3.4	30.5	2.2	25.7	1.8	26.6	1.8	28.1	2.5
2. आस्ट्रिया	9.7	1.8	8.7	2.4	11.8	5.5	15.2	5.4	16.9	6.8
3. बेल्जियम	46.6	0.5	42.6	0.3	43.8	0.2	43.7	0.2	40.2	0.1
4. कनाडा	50.3	0.3	42.8	0.2	43.9	0.1	42.7	0.1	36.0	0.1
5. डेनमार्क	1.8	4.1	1.6	4.0	1.3	4.0	अनुपलब्ध	अनुपलब्ध	अनुपलब्ध	अनुपलब्ध
6. फ्रांस	7.7	0.8	7.6	0.7	9.5	0.5	9.0	0.3	8.9	0.3
7. जर्मनी (पश्चिमी)	12.8	0.1	16.4	0.1	19.6	0.1	21.5	0.1	22.9	न०
8. भारत	43.4	11.8	38.8	10.7	43.9	11.8	46.0	12.8	49.2	12.2
9. इटली	25.2	—	31.5	—	38.3	—	41.2	—	45.5	—
10. जापान	7.6	न०	7.8	न०	7.9	न०	10.6	न०	16.0	न०
11. फिलीपीन्स	13.2	3.8	11.3	5.1	11.9	5.4	12.7	9.3	12.8	10.4
12. श्रीलंका	51.5	16.1	47.0	14.6	47.8	16.3	51.1	20.0	47.9	36.7
13. स्वीडन	21.8	न०	23.6	न०	24.7	न०	23.8	0.1	26.5	0.1
14. ब्रिटेन	54.3	2.5	52.1	2.1	47.0	3.1	48.3	3.2	50.4	3.1
15. अमरीका	42.9	—	38.1	—	40.8	—	41.9	—	42.6	—

स्रोत : (i) यू० एन० स्टैटिस्टिकल ईयर बुक (विभिन्न अंक)।

(ii) इंटरनेशनल फाइनेंशियल स्टैटिस्टिक्स (विभिन्न अंक)।

टिप्पणी : (i) भारत के लिए आंकड़े राजकोषीय वर्षों पर आधारित हैं जो अप्रैल के आरंभ में शुरू होते हैं।

(ii) न०=नगण्य

अंतर्राष्ट्रीय विकास एसोसिएशन पर भारत की वित्तीय निर्भरता की सीमा आगे दिए गए उदाहरणों से भी कुछ न कुछ स्पष्ट हो जाएगी :

वित्तीय वर्ष 1980 में भारत ने कृषि के पुनः वित्तपोषण और विकास निगम के साथ 25 करोड़ डालर के ऋण महाराष्ट्र में द्वितीय सिंचाई परियोजना को वित्तपोषित करने के किए 2 करोड़ डालर के ऋण गुजरात में सिंचाई परियोजना के लिए 17.5 करोड़ डालर के ऋण, कर्नाटक में रेशम के उत्पादन के विस्तार और सुधार के लिए 3.7 करोड़ डालर के ऋण, केरल, आंध्र और उड़ीसा में काजू के उत्पादन की वित्तीय सहायता के लिए 2.2 करोड़ डालर के ऋण और पश्चिम बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में फसल के उत्पाद को बढ़ाने के लिए 2 करोड़ डालर तथा इसी प्रकार के अन्य ऋणों के लिए करार किए।

इम्पीरियल बैंक और जीवन बीमा के राष्ट्रीयकरण और इस्पात जैसे भारी उद्योगों के विकास के संकल्प नेहरू के समाजवादी दृष्टिकोण के संकेत थे। लेकिन नई नीतियों के कार्यान्वयन में देश की असमर्थता पीएल-480 के अन्न के आयात की बढ़ती हुई निर्भरता और विदेशी विनिमय के संकट के कारण प्रकट हो गई। इस स्थिति का सामना न कर सकने की योग्यता के अभाव में नेतृत्व ने विश्व बैंक के अधीन धनी देशों द्वारा सहायता की कीमत पर अपने आधारभूत दृष्टिकोण के प्रति समझौता कर लिया। 1966 का अवमूल्यन विदेशी ऋणदाताओं द्वारा हम पर थोप दिया गया था। इस अवमूल्यन से एक बार में ही विदेशी ऋण के दायित्वों में 2,648 करोड़ रुपए की वृद्धि हो गई, अर्थात् मार्च, 1966 में 4,650 करोड़ रुपए की राशि से बढ़कर मार्च, 1967 में 7,298 रुपए की राशि हो गई।

हमें अपने ऋण के भुगतान के लिए दिन-प्रतिदिन की आवश्यकताओं की वस्तुओं, यथा—चाय, शक्कर, कॉफी, तिलहन, बासमती चावल और काजू का निर्यात करना पड़ता है और अपने देश के लोगों को ही भूखा रखा जाता है और इसके अलावा उपलब्ध वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं। 15 अगस्त, 1974 के बंबई के साप्ताहिक 'बिलट्ज़' के अंक में लिखा गया है : "उदाहरण के लिए किसी समय चीनी का निर्यात 75 पैसे प्रति किलो किया जाता था जबकि उसकी स्थानीय कीमत 4 रुपए प्रति किलो थी और चाय 8 रुपए प्रति किलो की दर से निर्यात की जाती थी जबकि उसकी स्थानीय कीमत 16 रुपए अथवा 20 रुपए प्रति किलो थी। जूते 15 रुपए या 20 रुपए प्रति जोड़ी निर्यात किए जाते हैं जबकि देश में प्रति जोड़ी जूतों की कीमत 60 रुपए से लेकर 80 रुपए तक है। कपड़े का निर्यात 1.50 रुपए से लेकर 2.50 रुपए प्रति मीटर की दर से किया गया है जबकि हमारे बच्चों को औसत दर्जे का कपड़ा 4 रुपये प्रति मीटर भी नहीं मिल पाता। कपड़े के सिले-सिलाए वस्त्र विदेश में 12 रुपए से 15 रुपए तक बेचे जाते हैं जबकि हमारे देश में उनकी लागत 60 रुपए से 70 रुपए तक होती है।"

भारत जैसे विकासशील देश ऋणों अथवा अनुदानों के रूप में विदेशी सहायता

मांगते हैं लेकिन यह बात भुला दी जाती है कि विदेशी सहायता की निर्भरता आर्थिक रूप से गला घोंटने वाली ही नहीं बल्कि अपमानजनक भी है।

'सहायता' उभयभावी अभिव्यक्ति है। ऐसा लगता है कि यह शब्द मदद, सहायता, राहत का द्योतक है और इस अभिव्यक्ति के प्रमुख भाव का संबंध बिना किसी प्रतिकर के मिलने वाले अनुदान से है। फिर भी वास्तव में विदेशी सहायता विरल रूप से ही सीधे अनुदान होती है बल्कि यह सहायता ऋणों और देय राशियों के रूप में विदेशी मुद्रा में भुगतान की जानी होती है; यह सहायता भारतीय मुद्रा में भी भुगतान की जा सकती है यदि विशेष प्रकार के करार कर लिए गए हों अथवा इस सहायता को ब्याज सहित वस्तुओं के रूप में भी वापिस किया जाता है। ये ऋण और देय राशियां सरकार से सरकार के खाते में, अथवा पारस्परिक समझौतों के अंतर्गत, अथवा सहायता देने वाले देश की वित्तीय संस्थाओं द्वारा, अथवा अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय एजेन्सियों, यथा—विश्व बैंक के माध्यम से, अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधीन काम करने वाले अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय निगम की हो सकती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सहायता की आवश्यकता वित्तीय संसाधनों का सीधा ही हस्तांतरण मानी जाय। यह सहायता सीधे ही वस्तुओं का ऋण हो सकती है जैसा कि रूस का गेहूं अथवा अमरीका के पीएल-480 की ऋण-सहायता का रूप कुछ भी क्यों न हो, यह स्पष्ट है जैसा कि टेरेसा हेयटर ने एक पुस्तक 'एड ऐज़ इम्पीरियलिज़्म' (पेंगुइन सिरीज़, 1974) में लिखा है कि सहायता बिना किसी शर्त के वित्तीय संसाधनों का हस्तांतरण नहीं है। उन्होंने कहा है :

> "साधारणतया सहायता से संबद्ध शर्तें स्पष्ट रूप से और सीधे ही उन सरकारों के हितों की पूर्ति के लिए होती हैं जो इस सहायता को देती हैं। उदाहरण के लिए साधारणतया सहायता के दाता से वस्तुओं तथा सेवाओंकी खरीद के लिए सहायता का उपयोग किया जाना चाहिए। अमरीका की सहायता को अमरीकी जहाजों से ही ले जाना चाहिए। हिकेनलूपर संशोधन के अंतर्गत अमरीकी सहायता उन देशों को उपलब्ध नहीं होनी चाहिए जो अमरीकी स्वामित्व की परिसम्पत्तियों का राष्ट्रीयकरण कर लेते हैं और छः महीने में इस स्थिति को सुधारने के लिए यथोचित कदम नहीं उठा पाते।"

जो सरकार सहायता प्राप्त करती है, उसकी नीतियों को प्रभावित करने के लिए भी सहायता का उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए अमरीका के कार्यक्रम मार्गदर्शक मैनुअल में कहा गया है :

> "विदेशी नीति के रूप में सहायता का सर्वोत्तम अनुकूलन आर्थिक विकास का प्रवर्तन करना है। विकास अपने आप में अन्तिम उद्देश्य नहीं है लेकिन अमरीका की नीति में इसका विशेष स्थान है क्योंकि अधिकांश देशों में आर्थिक कल्याण की कुछ प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि उन देशों को गैर-साम्य-

वादी सोसायटियों से मुक्त बनाया जाए तथा उनका अनुकरण और विकास किया जाये।"

गरीब देशों में आर्थिक विकास का व्यक्त हित इस प्रकार का है, और जिसे ऊपर दिए गए उद्धरण से देखा जा सकता है, कि इस हित से विकसित देश स्वयं अपने दीर्घकालीन हितों को पूरा कर सकें क्योंकि सर्वप्रथम विकासशील देशों को दी गई विदेशी सहायता से सहायता प्राप्त करने वाले देशों को आवश्यक मशीनरी और कच्चे माल की आपूर्ति के लिए दाता देश में पूर्ण रोजगार या लगभग पूर्ण रोजगार मिल सकेगा और इसके साथ ही साथ ब्याज सहित ऋण की अदायगी के रूप में सहायता-प्राप्त देश से संसाधनों को वास्तविक रूप से लौटाया जा सकेगा। इसके अलावा, इससे यह भी सुनिश्चित होता है कि सहायता देने वाला देश अपने कई नागरिकों को सहायता प्राप्त करने वाले देश में संयंत्रों की स्थापना करने के लिए उनके अनुरक्षण के लिए और विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं में उत्पादन के निरीक्षण के लिए रोजगार दिलाएगा। सहायता के लिए समय-अनुसूची की व्यवस्था के जरिए ऐसे कर्मचारियों का प्रवाह बराबर बना रहता है। भारत में रूस की सहायता और जर्मन सहायता द्वारा निर्मित इस्पात संयंत्रों का उदाहरण दिया जा सकता है जिनमें आज भी विदेशी तक-नीशियन भरे हुए हैं। इस प्रकार विदेशी सहायता आर्थिक उपनिवेशवाद का एक नया रूप है जिसमें सहायता-प्राप्त देश, दानदाता देश पर आश्रित रहता है और इस प्रकार सहायता-प्राप्त देश अपने राष्ट्रीय उद्देश्यों के अनुसार प्रबंध संबंधी मामलों के संबंध में पूरी सर्वप्रभुता का प्रयोग करने में बाधित हो जाता है, जिसका कारण यह है कि ऐसी परिस्थितियां पैदा हो जाती हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ऋणों और अग्रिम राशियों के प्रति सहायता-प्राप्त देश को बांधे रहती हैं। इसके अलावा, आर्थिक निर्भरता इस आवश्यकता से बराबर बनी रहती है कि लगातार विदेशी संसाधनों को खोजा जाए जिसे 'ऋण सेवा' के नाम से पुकारा जाता है, अर्थात् ऋण और उसके ब्याज का भुगतान, जैसे कोई गरीब विकासशील देश अपने लघु निर्यातों से वित्तपोषित नहीं कर सकता। इस प्रकार जैसा कि गत पृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है कि हमारी विदेशी सहायता का अधिकांश भाग मूलधन के परिशोधन और ब्याज के भुगतानों में चला जाता है। जब सहायता (अन्य शब्दों में अनुदान सहित ऋण) 1968-73 की अवधि में काफी कम कर दी गई तो इस देश को 1973-74 से आगे अपेक्षाकृत अधिक सहायता मांगनी पड़ी। वर्ष 1975-76 से लेकर वर्ष 1978-79 के चार वर्षों का हिसाब करते हुए यह देखा गया कि 7058.3 करोड़ रुपए की विदेशी सहायता में से ऋण सेवा में ही 3144.4 करोड़ रुपए की राशि थी जो सहायता का 40.6 प्रतिशत है। इसका परिणाम यह हुआ कि आज औसत भारतीय 400 रुपए के विदेशी ऋण से लद गया है जो कि शायद संसार में सबसे अधिक है।

ऊपर बताई गई बातों से यह स्पष्ट है कि कोई भी सहायता बिना प्रतिबंधों और कोई भी अनुदान बिना शर्तों के नहीं होता और यदि ऐसा हो भी तो इस प्रकार के अनुदानों से सहायता देने वाले में मनोवैज्ञानिक अहंकार पैदा हो जाता है और अनु-

दान प्राप्तकर्ता की प्रवृत्ति याचक जैसी हो जाती है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि "जिस किसी आदमी को उपहार मिलता है वह उपहार देने वाले व्यक्ति के विचारानुसार कार्य कर उठता है। इस प्रकार उपहार प्राप्तकर्ता के पतन की संभावना हो जाती है। उपहार प्राप्त करना ही मस्तिष्क की स्वतंत्रता का विनाश करना है और इससे हममें दासता आ जाती है। इसलिए कोई भी उपहार स्वीकार न करो।" उदाहरण के रूप में, अक्टूबर, 1974 के अंतिम सप्ताह में भारत ने अपने मित्र देश रूस से प्रार्थना की कि मिट्टी का तेल, रोल्ड स्टील, नॉनफैरस धातुएं और उर्वरक जैसी आवश्यक वस्तुओं की बढ़ी हुई आपूर्ति की जाए जिसे रूस ने अशिष्टता से अस्वीकार कर दिया।

यह कहा जाता है कि द्विपक्षीय सहायता के स्थान पर यह लाभदायक होगा कि अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-निधि और विश्व बैंक जैसी अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों से ऋण लिए जाएं जो अपने कार्यों की प्रकृति के अनुरूप कोई भी शर्तें आरोपित नहीं कर सकते और जिन देशों को ये ऋण दिए जाते हैं उनकी प्रभुसत्ता में किसी प्रकार का कोई भी गतिरोध पैदा नहीं कर सकते। यहां फिर यह बिना शर्त के ऋण का मोहरा मात्र समझ पड़ता है। वास्तव में विश्व बैंक और अन्य संबद्ध एजेंसियां ऋण देने से पूर्व अपने विशेषज्ञों को भेजकर अध्ययन करा लेती हैं जो निवेशों और कर नीतियों का मूल्यांकन, परियोजनाओं का चयन, उन परियोजनाओं की आर्थिक संभाविता और सार्वजनिक लेखा पर घाटों के आकार जैसे बजट-नियंत्रण का मूल्यांकन करते हैं और ऋण देने से पूर्व ऐसे सभी मामलों पर परामर्श देते हैं। इस प्रकार का परामर्श कभी-कभी सरकारी नीतियों के विरुद्ध भी हो जाता है।

हर्षमैन ने अपनी पुस्तक 'फॉरेन एड—ए क्रिटीक एण्ड ए प्रैपोज़ल' में कहा है :

> "कोई भी देश वचन देता है···वह विशिष्ट रूप से निम्न प्रकार का होता है : निवेश की वृद्धि और उपभोग की कमी करना निजी क्षेत्रक के भाग की वृद्धि और सार्वजनिक क्षेत्रक की कमी करना मुद्रा का अवमूल्यन करना और इसके फलस्वरूप देश के साथ सापेक्ष कीमत में परिवर्तन करना मुद्रा-स्फीति का उपरोध करना और इसके फलस्वरूप किसी विशेष समूह पर आघात पहुंचाना जिसको कि आगामी मुद्रा-स्फीति के विनियोग से लाभ उठाना है, ऋण का विस्तार करना अथवा मजदूरी की कीमतों में वृद्धि करना और इसी प्रकार की अन्य बातें।"

यह स्पष्ट है कि 1966 में अवमूल्यन विश्व बैंक के दबाव के फलस्वरूप किया गया था और इस देश की सरकार को विभिन्न आर्थिक नीतियों के अपनाने में बैंक जो सूक्ष्म दबाव डाल रहा है वह विदित नहीं होगा। यह भी व्यापक रूप से विश्वास किया जाता है कि विश्व बैंक के दबाव के फलस्वरूप अधिक अविश्वासी परिवार-नियोजन और बंधीयकरण के कार्यक्रम को अपनाया गया। इसके बावजूद हमारा देश बाह्य सहायता को उसी प्रकार देख रहा है जैसे चातक पक्षी वर्षा के आगमन की प्रतीक्षा

करता है। इससे यह विदित होता है कि हमारी सुरक्षित विदेशी राशियों की वर्तमान और अस्थायी वृद्धि के फलस्वरूप विदेशी संस्थाओं की सहायता में कटौतियों की संभावना के प्रति हमारी चिंता बढ़ती जाती है।

जबकि यह सब कुछ सही है कि यहां तक कि अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, स्वीडन और रूस ने भी अपनी अर्थव्यवस्था के विकास के लिए विदेशी पूंजी के ऋण मांगे थे या उन्हें मांगने पड़े थे लेकिन इस सबकी एक सीमा होती है जिसमें हमें इस प्रकार की सहायता का उपयोग करना चाहिए। ऋणों के लिए ब्याज दिया जाना होता है। अब सभी प्रकार के आर्थिक या विकास के कार्य ऐसे नहीं हैं जो भुगतान कर सकें अथवा आवश्यक रूप से और अपने आप ही भुगतानों की शेष राशि को आनुपातिक रूप से पूरा कर सकें। उदाहरण के लिए बिजली, संचार, परिवहन, जल-आपूर्ति, स्वास्थ्य और शिक्षा जैसी सामाजिक मदों के अंतर्गत निवेश प्रायः इस प्रकार का निवेश है जिसमें प्राप्तियां बहुत समय बाद हो पाती हैं और जिनमें पूंजी के अनुपात में बहुत ही कम उत्पादन होता है। फिर भी ऊपर बताए गए देशों की परिस्थितियां हमारी परिस्थितियों से नितांत भिन्न हैं; उन देशों में प्रति व्यक्ति भौतिक संसाधनों की मात्रा और उनके मानवीय कारक की गुणवत्ता बहुत अधिक है। विदेशी पूंजी से इस दर पर लाभांश मिले हैं कि ऋणों की अदाएगी में किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं हुई है अथवा किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं हो सकती थी।

दूसरा : कतिपय परिस्थितियों में वास्तव में विदेशी आर्थिक सहायता लाभ पहुंचाने की अपेक्षा अधिक हानि कर सकती है और वास्तव में वह करती है। जिस सीमा तक विदेश में निर्मित ऐसी मशीनों और साज-सामान का आयात किया जाता है जो ऐसी परियोजनाओं के लिए होती हैं जो अनुत्पादक हैं तो इससे हमारे मिथ्याभिमान की तुष्टि ही क्यों न हो, यह आयात अलाभकारी होता है और देश में वर्तमान सामाजिक और आर्थिक तनाव के बढ़ाने तथा तीव्र करने के लिए मुद्रास्फीति चक्र को उभारता है। राष्ट्रीय एयरलाइंस, विदेशी होटल, नाभिकीय रियेक्टर, नाभिकीय बम, संचार सेटेलाइट और यहां तक कि पश्चिमी प्रकार के विश्वविद्यालय (जिनके स्नातकों को काम भी नहीं मिल पाते) इस प्रकार की परियोजनाओं के उदाहरण हैं।

तीसरा : इस प्रकार की सहायता से आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में अवश्यमेव विपरीत प्रतिक्रिया होगी। आर्थिक क्षेत्र में इससे घरेलू संसाधनों की गतिशीलता के लिए घरेलू प्रयत्नों के बढ़ाने की आवश्यकता कम होती जाती है और इसके साथ ही साथ योजनागत परियोजनाओं पर खर्चों के विवरण के संबंध में सतर्कता बढ़ानी पड़ती है। उदाहरण के लिए यह तथ्य विवादहीन है कि पीएल-480 इस बात के लिए उत्तरदायी है कि इससे आज हमारे देश में वित्तीय अनुशासन का लगभग अभाव हो गया है। चूंकि वर्ष-प्रतिवर्ष बजट को संतुलित करने के लिए इन आपूर्तियों की बिक्री से बड़ी-बड़ी निधियां उपलब्ध होती रहीं। अतः भारतीय स्थापना ने वस्तुतः गैर-विकास व्यय को सीमित करने की आदत छोड़ दी। यहां तक कि उसने वही सब मार्ग अपनाए जबकि 1971 में पीएल-480 कार्यक्रम समाप्त कर दिया गया था।

उसके बाद से हमारे देश में भयभीत करने वाले स्तर तक घाटे के वित्तीयन को स्वीकार किया गया है।

चौथा : राजनीतिक क्षेत्र में यदि सहायता प्राप्त देश सावधान नहीं है तो विदेशी सहायता विदेशी नीति के मामले में उसकी स्वतंत्रता पर प्रतिरोध उत्पन्न कर सकती है—जैसा कि हमने 1971 में पाकिस्तान के विरुद्ध अपने संघर्ष के संबंध में देखा था। सहायता देने वाले देश, इस मामले में अमरीका, का मस्तिष्क इस संघर्ष के दौरान किस प्रकार से कार्य करता रहा, इसका उल्लेख अमरीका के स्तंभ लेखक जैक एंडर्सन ने किया था। 8 दिसम्बर, 1971 को आयोजित डब्ल्यू० ए० एस० जी० (वाशिंगटन एक्शन ग्रुप) की बैठक में डॉ० किंसिजर ने इस बात पर जोर दिया कि अमरीका के राष्ट्रपति ने यह स्पष्ट कर दिया है कि व्हाइट हाउस की स्वीकृति के बिना भारत को अन्य विदेशी विनिमय (बेशी) वस्तुएं अथवा विकास-ऋण नहीं दिए जा सकेंगे।

उप-सहायता प्रशासक श्री विलियम्स ने उस समय यह नोट किया कि यह एक अच्छा विचार होगा कि गेहूं के स्थान पर वनस्पति तेल दिया जाए। उन्होंने उस समय जो कहा वे शब्द इस प्रकार हैं :

> "कृषि-विभाग का यह कहना है कि वनस्पति तेल की कीमत घटती जा रही है और इससे हमें घरेलू क्षेत्र में सहायता मिलेगी...यदि भारत को तेल भेजा जाए।"

सभी विदेशी सहायता कम करने की राष्ट्रपति और सीनेट की चेतावनी का उल्लेख करते हुए 'क्रिश्चियन साइंस मॉनीटर' ने यह बताया कि विदेशी सहायता में अन्ततोगत्वा अमरीका के हितों की किस प्रकार सुरक्षा की है :

> "व्हाइट हाउस और कांग्रेस अमरीकी विदेशी सहायता के अधिकांश प्राथमिक लाभों के प्रति सचेत है—अमरीकी उद्योग के प्रति भी। सहायता-कार्यक्रम के परिणामस्वरूप प्रतिवर्ष एक बिलियन डालर अमरीका निर्मित वस्तुओं की ब्रिक्री हो जाती है। इन वस्तुओं में से काफ़ी भाग उन राज्यों का है जिनके प्रतिनिधि वे सिनेटर हैं जिन्होंने प्रारंभिक कानून के लिए अपना मत दिया था। दीनताग्रस्त अमरीकी जहाजी बेड़े को इस सहायता कार्यक्रम से विदेशों को ढुलाई करने पर राजस्व का चौथाई भाग प्राप्त होता है और आश्चर्यचकित कर देने वाली बात यह भी है कि अमरीकी विश्वविद्यालयों तथा विदेशों में तकनीकी और अन्य सहायता कार्यों के लिए शोध केंद्रों को भी इस सहायता-निधि में से 60 करोड़ डालर की राशि मिल जाती है। अमरीका की अर्थव्यवस्था में से इस प्रकार की औद्योगिक और तकनीकी सहायता की कटौती पर, जैसा कि सिनेट ने इस संबंध में अपना अभिचारित मत दिया था, उसकी अपेक्षा अधिक गंभीर रूप से विचार करना होगा, विशेष रूप से जब कोई आर्थिक प्रतिक्रिया प्रत्येक राजनीतिज्ञ के दुबारा चुनाव के लिए उपयोगी होती है।"

इसलिए हमारे देशवासियों को यह महसूस करना चाहिए कि धनी, औद्योगिक राष्ट्र गरीब राष्ट्रों के प्रति सहानुभूति प्रकट करने में सच्चे नहीं हैं। मानवीय प्रकृति के अनुभव से हमें यह पता चलता है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के लिए चाहे अपने प्राणों की आहुति दे दे लेकिन एक दल, समुदाय या राष्ट्र किसी दूसरे दल, समुदाय या राष्ट्र के लिए बलिदान नहीं कर सकता। यह बात रॉबर्ट एस० मैकनामारा के भाषण के उद्धरण से स्पष्ट होती है जब वह 13 वर्षों के बाद विश्व बैंक की अध्यक्षता के कार्यभार से निवृत्त हुए थे और उस भाषण की रिपोर्ट 1 अक्टूबर, 1980 के 'डलास टाइम्स हैरल्ड' में प्रकाशित की गई थी :

> वाशिंगटन : रॉबर्ट एस० मैकनामारा ने, जो विश्वबैंक के अध्यक्ष पद से 13 वर्षों बाद सेवा-निवृत्त हो रहे हैं मंगलवार को विश्व निर्धनता को कम करने के अमरीकी सरकार के अपमानजनक रिकार्ड की आलोचन की।
>
> भूतपूर्व अमरीकी रक्षा सचिव ने भाव-विह्वल होकर अश्रुधारा के साथ अपने भाषण का समापन किया और कहा कि "व्यापक रूप से फैली हुई गरीबी हम सभी की मानवीय प्रतिष्ठा का खुला अपमान है···क्योंकि हम सभी सामूहिक रूप से ऐसी शक्ति रखते थे कि इस गरीबी से अधिक लड़ सकें लेकिन हम ऐसा करने में असफल रह गए।"
>
> 64 वर्षीया मैकनामारा ने 141 राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि और विश्व बैंक की वार्षिक संयुक्त बैठक को संबोधित किया। मैकनामारा की अध्यक्षता में विश्व बैंक इस बात की मुख्य धारा बनी रही कि धनी राष्ट्रों से गरीब राष्ट्रों को सहायता वितरित की जाए और गत वर्ष अधिकांशतया मानवीय प्रयोजनों के लिए 12 बिलियन डालर के ऋण दिए गए।
>
> लेकिन मैकनामारा ने कहा कि अभी भी 1.3 बिलियन लोग हैं जो विश्व की जनसंख्या के ¼ भाग से अधिक हैं और वे ऐसे देशों में रह रहे हैं जहां प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति 200 डालर से अधिक आय नहीं हो पाती।
>
> मैकनामारा ने अधिकांश औद्योगिक राष्ट्रों के सहायता प्रयत्नों की आलोचना की लेकिन विशेष रूप से उन्होंने अमरीका की आलोचना की। इस संबंध में उन्होंने यह बताया कि अमरीका गरीबी से लड़ने के लिए अन्य देशों की तुलना में अपेक्षाकृत कम सहायता दे रहा है और यह सहायता अन्य गैर-साम्यवादी औद्योगिक राष्ट्र की तुलना में, अमरीका में अधिक संपत्ति होने के बावजूद, बहुत कम है।
>
> विश्व बैंक के आकड़ों से यह विदित होता है कि इस वर्ष अमरीका अपने सकल राष्ट्रीय उत्पाद के एक प्रतिशत का 18 सौवां भाग ही विदेशी सहायता के लिए आवंटित करेगा जबकि इसकी तुलना में औसत रूप से सभी विकसित देश एक प्रतिशत का 34 सौवां भाग आवंटित करेंगे। अभी हाल ही में संयुक्त राज्य का प्रयत्न एक प्रतिशत का 27 सौवां भाग था—यह कहकर मैकनामारा अपने लंबे भाषण के बाद फूट-फूटकर रो पड़े।

उन्होंने कहा कि "गत 13 वर्ष मेरे जीवन के सबसे अधिक उत्तेजक वर्ष रहे हैं। मैंने इन वर्षों को किसी अन्य काम में नहीं लगाया है।" उन्हें उस समय प्रतिनिधियों से भूरि-भूरि प्रशंसा प्राप्त हुई जो विश्वभर के अधिकांशतया वित्त मंत्री और सेंट्रल बैंक के अध्यक्ष थे।

इसके साथ ही साथ पाठक यह भी जानने में रुचि दिखाएंगे कि भारत के कितने समाजसेवियों ने अपने ही देश के उन लोगों के रहन-सहन पर आंसू बहाए हैं जो गरीबी-रेखा से नीचे अपना जीवन-यापन कर रहे हैं जिनकी संख्या आज 3.8 करोड़ से कम नहीं है।

आज हमारे लिए यह शर्मनाक बात है कि भारत की अर्थव्यवस्था विदेशी पूंजी की दयनीय निर्भरता से ग्रसित है। इस तथ्य के बावजूद कि संपूर्ण प्रेरणा और स्वराज के लिए हमारे संघर्ष के पीछे संपूर्ण प्रेरक शक्ति जैसा कि विश्व भर में प्रत्येक राष्ट्रीय आंदोलन के लिए हुआ करती है, स्वदेशी भावना, आत्मनिर्भरता की भावना और स्वावलंबी होने के लिए जनता को दृढ़ निश्चयी बनाती है। फिर यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जो किसी राष्ट्र को महान् बनाती है। नेहरू की विदेशी पूंजी और विदेशी प्रौद्योगिकी की निर्भरता की नीतियों ने देश के जीवन-संचारक रक्त को दुर्बल बना दिया है। विदेशी सहायता गरीब प्राप्तकर्ता को उसकी आंखों में ही गिरा देती है और स्वावलंबन तथा उद्यम की भावना को नष्ट कर देती है।

प्रोफेसर पी० टी० बौयेर ने 1974 के अंत में 'स्टेट्समैन', नई दिल्ली में एक लेख प्रकाशित कराया जिसमें उन्होंने यह कहा है कि, "बाह्य सहायता की आवश्यकता पर जोर देने से गरीब देशों के लोग स्वयं इस आवश्यकता को धूमिल बना देते हैं कि वे उन सुविधाओं, प्रवृत्तियों और संस्थाओं का विकास कर सकें जिनकी इन समाजों को सतत और पर्याप्त भौतिक प्रगति करने के लिए आवश्यकता होती है। वास्तव में, इस बाह्य सहायता पर जोर देने से इन देशों में इस प्रकार के विचारों और प्रवृत्तियों का व्यापक रूप से प्रसार होता रहता है जो आर्थिक प्रगति के लिए हानिकारक है। किसी एक व्यक्ति या उसके परिवार की उन्नति के लिए अवसर और संसाधन किसी अन्य स्रोत से आने चाहिए—यह स्रोत, राज्य शासक, वरिष्ठ व्यक्ति, धनी लोग या विदेशी हो सकते हैं। इस अर्थ में सहायता उन सभी को गरीब बनाती जाती है जिनकी सहायता की जाती है।

इसलिए इस संबंध में दो मत नहीं हो सकते कि यदि विदेशी पूंजी विद्यमान है तो उसकी केवल सीमित भूमिका ही होगी; यह विदेशों से बचतों का (ऐसी बचतें जो देश के नागरिकों द्वारा की जाती हैं—चाहे वे देश के बाहर हों अथवा व्यापार आदि द्वारा पैदा की गई हों) विकल्प नहीं हो सकती अथवा अपने आप ही देश के भीतर पूंजी-संग्रह की समस्याओं का निराकरण नहीं कर सकती। 12 जुलाई, 1962 को संयुक्त राष्ट्र संघ ने विश्व आर्थिक परिस्थितियों की व्यापक समीक्षाओं की माला में

14वीं माला—'विश्व आर्थिक सर्वेक्षण, 1961' प्रकाशित की। इस सर्वेक्षण में स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया कि बाह्य सहायता उस विदेशी विनिमय की पूरक राशि से कभी भी अपेक्षाकृत अधिक नहीं हो सकती जो कम विकसित देश अपने निर्यातों से पैदा करते हैं।"

ये ऐसे देशों के उदाहरण हैं जिन्होंने अपनी आर्थिक व्यवस्थाओं में पर्याप्त परिवर्तन किए बिना ही काफी समय से विदेशी पूंजी की बड़ी-बड़ी राशियों का आयात किया है। उदाहरणार्थ, अर्जेन्टीना ने 1914 से पूर्व और वेनेज्यूला ने 1960 तक विदेशी पूंजी ली है। इन आयातों से थोड़े से समय के लिए प्रसार की लहर आ सकती है जिसका बाद में पूरा निर्वाह नहीं किया जा सकता। केवल विदेशी पूंजी के अलावा अन्य ऐसे कई कारक या शर्तें हैं जो देश के आर्थिक विकास में सहयोग देती हैं या उसमें अंतर पैदा करती हैं, यथा—प्राकृतिक संसाधनों की मात्रा और गुणवत्ता; आंतरिक बचतों की दर; वैयक्तिक परियोजनाओं में तकनीकों का चयन अथवा पूंजी का संकलन, चाहे वे योजनाएं पूंजी प्रधान अथवा श्रम प्रधान ही क्यों न हों; प्राथमिकता जो अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रकों और उपक्षेत्रकों के मध्य आवंटित की गई होगी; कार्य-विस्तार जिसमें मुक्त अथवा निजी उद्यम को कार्य करने के लिए अनुमति दी जाएगी या अनुमति नहीं दी जाएगी; प्रशिक्षित और स्वस्थ श्रमिक दल तथा उत्साहित और दूरदर्शी उद्यमकर्त्ताओं की उपलब्धि; सामाजिक पद्धति और आर्थिक संगठन जो कामगारों के प्रोत्साहनों और गतिशीलता का निर्धारण करता है; राजनीतिक दर्शन और कार्यकुशलता अथवा वैकल्पिक रूप से प्रशासन, जिस पर यह निर्भर है कि नागरिक सुरक्षा की भावना महसूस करेंगे अथवा महसूस नहीं करेंगे; और इससे अधिक लोगों की प्रवृत्तियां अर्थात् क्या वे वस्तुतः प्रगति चाहते हैं और क्या वे अभिनव परिवर्तन करने तथा कठोर परिश्रम करने के लिए तैयार हैं!

13

विदेशी निवेश : बहुराष्ट्रिक अथवा सहयोग के रूप में

विदेशी सहायता मुख्यतया सरकारी लेखे में संसाधनों का परिवर्तन है। इस विदेशी सहायता से भिन्न विदेशी निवेश होता है। विदेशी निवेश का अभिप्राय निजी अथवा सार्वजनिक उद्यमों की एजेंसी द्वारा पूंजी और अन्य संसाधनों का अंतर-प्रवाह होता है। विदेशी निवेश शुद्ध रूप से वाणिज्यिक प्रस्ताव है जो लाभ की प्राप्ति और सुरक्षा के आश्वासन से आकर्षित होता है। सभी भूतपूर्व औपनिवेशिक देशों में विदेशी निवेश अधिकांशतया उन कंपनियों द्वारा उपलब्ध किया गया था जो इंपीरियल देश के अधीन थे, यथा—भारत के मामले में इंगलैंड, ईस्ट इंडीज के मामले में नीदरलैंड, इंडो-चीन और अफ्रीकी देशों के मामले में फ्रांस। ये निवेश मुख्यतया और प्रारंभिक रूप से औपनिवेशिक देशों से इंपीरियल देश के उद्योगों की पूर्ति के लिए कच्चे माल और खनिज उत्पादों को प्राप्त करने के उद्देश्य से किए गए थे। इन औपनिवेशिक देशों की स्वतंत्रता-प्राप्ति पर ये निवेश इस तर्क पर किए जाते रहे कि विदेशी वाणिज्यिक हितों को यकायक हटा लेने से देश की अर्थव्यवस्था में कुछ न कुछ विपत्ति पड़ेगी और यदि इन विदेशी संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण भी किया जाय तो काफी वित्तीय संसाधनों की आवश्यकता होगी, जबकि वित्तीय संसाधनों का अभाव है।

प्रारंभ में भारत में ब्रिटिश कंपनियों ने जूट, चाय और रबर जैसे उद्योगों में अपनी निधियों का निवेश किया। बाद में वे सार्वजनिक उपयोगिता के उद्यमों में भाग लेने लगे। रेलवे में पूंजी निवेश सबसे अधिक था, यह राशि 1938-39 में 847.82 करोड़ रुपए थी और इस राशि पर 35.96 करोड़ रुपए का लाभ हो जाता था। 1943-44 में 858.52 करोड़ रुपए के निवेश पर दुगुने से अधिक लाभ हुआ जो 85.21 करोड़ रुपए था। भारत की अन्य कंपनियों में ब्रिटिश निवेश की राशि लगभग

30 करोड़ पौंड थी अर्थात् उस समय प्रचलित विनिमय दर के हिसाब से लगभग 400 करोड़ रुपए थी। विनिर्माण करने वाली संस्थाओं में से उस समय 'इंडियन स्टील कंपनी' और 'स्टील कारपोरेशन ऑफ बंगाल' दो बड़े धातुकर्मीय संयंत्र थे जो ब्रिटिश के नियंत्रण में थे। इस प्रकार, स्वतंत्रता के बाद ब्रिटिश रेलवे को हाथ में ले लेने से भारत में वस्तु-निर्माण, खनन, परिवहन, व्यापार, वृक्षारोपण और अन्य उद्योगों में कुल विदेशी व्यापार निवेश 203.1 करोड़ रुपए था।

उस समय वर्तमान विदेशी संस्थाओं को ही काम करते रहने की अनुमति नहीं दी गई अपितु नवीन विदेशी निवेश को भी निस्संकोच भाव से हमारे राजनीतिक नेतृत्व ने 'सहयोग' के नाम पर आमंत्रित किया। यह भी तर्क दिया गया कि इस नवीन विदेशी निवेश से रोजगार उपलब्ध होता है और इसके अलावा इन कारखानों से तकनीकी जानकारी तथा प्रबंध करने की कार्यकुशलता भी प्राप्त होगी जिसकी हमें आवश्यकता है। इसके साथ ही साथ पूंजी और उसके ब्याज के पुनर्भुगतान का प्रश्न ही नहीं उठता और उसमें किसी भी राजनीतिक शर्तों का प्रश्न ही नहीं उठता।

नेहरू ने 1949 में यह विचार व्यक्त किया कि "भारतीय पूंजी की विदेशी पूंजी से संवृद्धि करने की आवश्यकता है जिसका कारण यह नहीं है कि हमारी राष्ट्रीय बचतें देश में तीव्र गति से विकास करने के लिए उसी पैमाने पर पर्याप्त नहीं होंगी जैसा कि हम चाहते हैं बल्कि इसका कारण यह है कि हम कई मामलों में वैज्ञानिक, तकनीकी और रोचक ज्ञान तथा पूंजी साज-सामान विदेशी पूंजी की सहायता से हासिल कर सकते हैं।" 4 जुलाई, 1957 को इस विचार अथवा निर्णय की पुष्टि की गई जब उन्होंने यह कहा : "हमने बीते वर्षों में विदेशी पूंजी का सदैव स्वागत किया है और हम भविष्य में भी उसका स्वागत करेंगे।"

29 अगस्त, 1975 को भारतीय निवेश केन्द्र के अध्यक्ष आर० एस० भट्ट ने नई दिल्ली में आयोजित प्रेस सम्मेलन में जोरदार शब्दों में यह कहा कि उन्हें कई विदेशी फर्मों ने यह बताया है कि इस संबंध में सरकार की नीति प्रतिष्ठापित करने वाले मार्ग-दर्शक विचार 'ठीक और उचित' हैं और 'विश्व के किसी अन्य देश ने विदेशी फर्मों को समान भाग की अनुमति नहीं दी है, जैसी कि 74 प्रतिशत भाग की अनुमति हमारे देश ने दी है।" 26 अगस्त, 1977 को श्री भट्ट ने फिर घोषित किया कि "विदेशी निवेश और सहयोग के सम्बन्ध में नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है और सरकार जटिल प्रौद्योगिकी अथवा निर्यात की श्रीवृद्धि के क्षेत्रों में इस प्रकार के निवेश और सहयोग की अनुमति देगी।" भारतीय निवेश केन्द्र के अतिरिक्त महाराष्ट्र, पंजाब और उत्तर प्रदेश की सरकारों ने इंगलैंड, जर्मनी, अमरीका, कनाडा और अन्य देशों के व्यापारियों से संपर्क करने के लिए अपने दल भेजे हैं और इन दलों ने 'उत्साह-वर्द्धक परिणामों' की रिपोर्ट दी है।

विदेशी पूंजी के लिए इस प्रकार के निस्संकोच आमंत्रण देते समय यह बात

1. 'फाइनैंशियल एक्सप्रेस', 26 अगस्त, 1977.

भुला दी गई है कि वे विदेशी निवेशकर्ता अथवा सहयोगी जिनके पास सौदा करने की अच्छी शक्ति होती है और उनके पास जटिल प्रौद्योगिकी का ज्ञान होता है और विश्व भर में अपने जोखिमों को संतुलित करने की शक्ति होती है। वे ऐसी भारतीय फर्मों के साथ प्रतियोगिता कर सकते हैं जो पहले ही सुस्थापित हैं और विदेशी प्रौद्योगिकी उन फर्मों में उस समय प्रवेश करा दी जाएगी जबकि भारतीय जानकारी उपलब्ध है।

इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे देश में राजनीतिक स्वातंत्र्य के आगमन के साथ ही साथ जो विदेशी निवेशकर्ता अपने कामकाज को बंद करने के लिए तैयार हो गए थे उन्होंने यहां रुकने का निर्णय किया और विदेशी निवेश की राशि 1948 में 260 करोड़ रुपए से बढ़कर मार्च, 1964 में 890 करोड़ रुपए, मार्च, 1969 में 1,619 करोड़ रुपए और मार्च, 1974 के अंत में 1,940 करोड़ रुपए हो गई। स्वतंत्रता के सात वर्षों के भीतर ही ब्रिटिश निवेश 400 करोड़ चिह्नांक से आगे बढ़ गया। इसमें से एक-तिहाई निवेश विनिर्माण करने वाले और वृक्षारोपण उद्योग में लगाया गया। विनिर्माण करने के उद्योग में सिगरेट, तम्बाकू, खाद्यान्न वस्तुएं, जूट और क्वायर वस्तुएं, बिजली की वस्तुएं और दवाइयां प्रमुख रहीं। यह सब कुछ इस तथ्य के बावजूद हुआ कि हमने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के शोषण से स्वतंत्रता प्राप्त करने का संघर्ष किया था और अपने देश के लोगों को आर्थिक स्वतंत्रता दिलाई थी।

फिर भी, आज जो तथ्य और भी अधिक कटु है वह यह है कि हमारे यहां केवल एक विदेशी ही शोषक नहीं है बल्कि कई शोषक हैं जिन्होंने मिलकर 25 वर्षों की अवधि में 7 गुना शोषण बढ़ा दिया है। निजी विदेशी निवेश के विवरण इस प्रकार हैं :

तालिका 108

भारत में विदेशी निवेश : देशवार वितरण

(दस लाख रुपयों में)

देश	जैसा कि मार्च के अंत में					
	1969	1970	1971	1972	1973	1974
1	2	3	4	5	6	7
ब्रिटेन	6367	6179	6175	6410	6560	6891
अमरीका	4339	4313	4567	4848	5154	5309
पश्चिमी जर्मनी (जनवादी गणराज्य)	1040	1157	1196	1367	1592	1808
इटली	734	902	911	840	733	834
जापान	814	713	603	547	516	416
स्विटजरलैंड	324	445	463	464	496	449
फ्रांस	560	532	481	495	630	497

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7
कनाडा	185	206	238	280	339	324
स्वीडन	186	188	195	202	286	343
अन्य देश	766	962	1115	1203	1186	1317
अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं	878	812	852	910	1082	1212
कुल	16193	16409	16796	17557	18574	19400

स्रोत : 'रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया बुलेटिन', मार्च, 1978, पृष्ठ 179.

1972-73 में विदेशी कंपनियों ने भारत से बाहर जो कुल राशि भेजी वह 888.8 करोड़ रुपए थी जैसा कि निम्नांकित तालिका में दिखाया गया है :

तालिका 109

विदेशी कम्पनियों द्वारा भारत से भेजी हुई राशियां

(दस लाख रुपयों में)

मदें	1971-72	1972-73	1977-78
लाभ	99.4	155.4	101.3
लाभांश	388.7	390.8	680.1
रायल्टी	58.6	73.3	195.0
तकनीकी जानकारी	139.0	113.3	281.4
निजी क्षेत्रक द्वारा दिए गए ब्याज का भुगतान	121.3	156.0	227.0
योग	807.0	888.8	1484.8

148.48 करोड़ रुपए की बड़ी राशि में से 80.84 करोड़ रुपए की राशि केवल दो देशों में ही चली गई—ब्रिटेन ने 41.88 करोड़ रुपए और अमरीका ने 38.96 करोड़ रुपए की राशि हड़प ली।

यद्यपि इसको प्राधिकारियों से बहुत कम सहायता मिली है, फिर भी दत्त कमेटी ऑन इंडस्ट्रियल लाइसेंसिंग, 1968 द्वारा जो तथ्य पता किए गए हैं, वे वस्तुतः शोचनीय हैं। जो 2,360 सहयोग के समझौते कमेटी के समक्ष आए उनमें से, उदाहरण के लिए, 1,583 समझौते 'दुबारा' किए गए थे अर्थात् कई भारतीय पार्टियों ने उसी विदेशी पार्टी के साथ अथवा उन्हीं विदेशी पार्टियों के साथ एक समान उत्पाद तैयार करने के लिए करारनामों पर हस्ताक्षर किए थे। समिति ने यह बताया है कि सबसे

खराब बात यह थी कि इन फर्मों में से 230 से अधिक फर्मों ने 'अनावश्यक' वस्तुओं, यथा—खिलौने, पेंसिल, स्याही, बालों की चिमटियां, सेफ्टी पिन, आइसक्रीम, ग्रामोफोन रिकार्ड, दांतों का पेस्ट, लिपस्टिक, जिन बियर और ब्रेसरी तैयार करने के लिए किए गए थे। जब इनके करारनामों के बारे में अनुमोदन किया गया था तो हमारे देश में लगभग इन सभी वस्तुओं के उत्पादन का कार्य पहले ही सुस्थापित था और विदेशी सहायता के बिना भी उस समय इन वस्तुओं का निर्माण बहुत अच्छे ढंग से किया जा सकता था।

सार्वजनिक उपक्रमों की समिति ने यह भी पता लगाया है कि सार्वजनिक क्षेत्रक के कारोबार अविवेकी ढंग से विदेशी तकनीकी सहयोग में समझौता कर रहे हैं जबकि तथ्य यह है कि अपेक्षित तकनीकी विज्ञान भारत में उपलब्ध है। उन्होंने अपनी 89वीं रिपोर्ट (पांचवीं लोकसभा में प्रस्तुत) में निजी पार्टियों द्वारा विदेशी सहयोग के ऐसे कई उदाहरण दिए हैं जिनका तकनीकी ज्ञान स्थानीय सार्वजनिक कारोबारों में उपलब्ध था। एक उदाहरण का संबंध 'नाइट्रोटैलाओमे' से है जिसे बंबई की किसी फर्म ने विदेशी सहयोग से प्राप्त किया था जबकि हिन्दुस्तान आर्गनिक कैमिकल्स, पूना में इसकी जानकारी थी। इसके अलावा इंडियन ऑक्सीजन लिमिटेड ने एक ऑक्सीजन संयंत्र के लिए विदेशी सहयोग के साथ समझौता किया जबकि भारत हैवी प्लेट एण्ड वैसिल्स, विशाखापट्टनम के पास आवश्यक जानकारी थी। टैक्समैको, कलकत्ता ने औद्योगिक बॉयलरों के लिए विदेशी सहयोग प्राप्त किया जबकि भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स लिमिटेड, त्रिची के पास आवश्यक जानकारी उपलब्ध थी।

मई, 1974 में औद्योगिक विकास मंत्रालय ने एक सूची प्रकाशित की जिसमें यह बताया गया है कि बंबई की एक फर्म को सिले-सिलाए कपड़े तैयार करने के लिए इटली की सिगनोरिया इंटरनेशनल फर्म के साथ सहयोग करने की अनुमति दी गई है। बंबई की एक दूसरी भी फर्म है जिसे घड़ियों के चमड़े के फीते तैयार करने के लिए किसी फ्रांसीसी फर्म से सहयोग मिला है और इलाहाबाद की भी एक फर्म है जिसने खेल की वस्तुएं तैयार करने के लिए ब्रिटिश फर्म का सहयोग पाने के लिए समझौता किया है और दिल्ली में भी एक फर्म है जिसे स्टोरेज बैटरियों के लिए अमरीकी फर्म के साथ सहयोग करने की अनुमति दी गई है। जब हिन्दुस्तान मशीन टूल्स (एच० एम० टी०) जापानी सहयोग से विभिन्न प्रकार की हाथ की घड़ियों का बड़े पैमाने पर उत्पादन करने में लगी हुई थी, उस समय हिमाचल प्रदेश की एक फर्म को हाथ की घड़ियां तैयार करने के लिए किसी स्विस फर्म के साथ सहयोग करने की अनुमति दी गई।

यहां तक कि दियासलाई के उद्योग में भी, जिसका विशेष संबंध कुटीर उद्योग से ही होना चाहिए, यह सत्य है कि बहुराष्ट्रीय विदेशी कम्पनी—विमको—ने दियासलाई उद्योग में उत्पादन और बिक्री का बहुत बड़ा भाग हथिया रखा है। यह कम्पनी कुटीर कामगारों का शोधन करती है और कुल उत्पादन के 60 प्रतिशत से अधिक भाग पर कब्जा किए हुए है।

इस प्रकार के उदाहरणों की संख्या बहुत है लेकिन ऊपर जो उदाहरण पहले ही दिए गए हैं उनसे वह अविवेकी ढंग विदित होता है जिससे कि भारत में विदेशी सहयोग प्राप्त किए गए हैं।

विदेशी पूंजी से पूर्णतया अथवा अधिकांशतया चलने वाली भारतीय कंपनियों की संख्या 1971-72 में 832 से बढ़कर 1976-77 में 1,136 हो गई। ये कंपनियां विशिष्ट प्रकार के चुने हुए क्षेत्रकों में चल रही हैं। उदाहरण के लिए कर्षक उद्योग, वृक्षारोपण, दवाइयां, रसायन, परिवहन और साज-सामान, मोटर गाड़ियां और खाद्यान्न प्रक्रमण जैसी वस्तुएं उन विशेष क्षेत्रों की हैं जहां पूंजी निवेश और प्रौद्योगिकी की तुलना में लाभ का अनुपात बहुत अधिक है।

मार्च, 1974 के अंत में वृक्षारोपण उद्योग को 113.6 करोड़ रुपए की राशि के वित्तीय दायित्व चुकाने थे। विनिर्माण करने वाले उद्योगों में सबसे बड़ा भाग 1073.2 करोड़ रुपए की राशि लगी हुई थी। इसके बाद सेवा क्षेत्रक (तथा बैंकिंग और बीमा) में 563.5 करोड़ रुपए की राशि लगी हुई थी, पैट्रोलियम में 175.8 करोड़ रुपए की राशि का हिसाब लगाया गया है और सबसे कम राशि के उद्योगों में खनन उद्योग पर 16.9 करोड़ रुपए की राशि लगाई गई थी। विदेशी क्षेत्रक ने देश के वृक्षारोपण अथवा कर्षक उद्योगों पर जो अधिकार जमा लिया था, उससे साधारणतया इस बात का ज्ञान होता है कि देश के आर्थिक पिछड़ेपन का सूचकांक क्या था अथवा विदेशियों ने अपने संसाधनों का कितना अधिक उपयोग किया था।

यही कारण है कि तीसरी दुनिया के एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों में इस बात के बराबर प्रयत्न किए गए हैं कि विदेशी नियंत्रण से इन उद्योगों को बचाया जाए। वृक्षारोपण और खनन के उद्योगों में विदेशी नियंत्रण पर भारत की लगागार निर्भरता इस संबंध में तात्कालिकता की समझ का अभाव प्रकट करती है। वृक्षारोपण में जहां विदेशी हितों का इस उद्योग में आधिपत्य है, भारत में 40 प्रतिशत चाय-उत्पादन उन स्टर्लिंग कंपनियों के हाथों में है जिन्होंने अपने को रुपया निवेश करने वाली कंपनियों में परिवर्तित कर लिया है लेकिन उन्हें विदेशी विनिमय अधिनियम के मार्गदर्शन के अधीन 74 प्रतिशत शेयर दिए जाने की अभी भी अनुमति दी गई है। चाय भारत के लिए पारंपरिक रूप से विदेशी विनिमय मुद्रा पैदा करने वाला एक उद्योग है, और जो चाय अधिकांश रूप से निर्यात की जाती है उसका उद्योग इन्हीं कंपनियों के हाथ में है। इन कंपनियों का संबंध अन्य चाय प्रतियोगी देशों, यथा—श्रीलंका और कीनिया से है। इसलिए यह कठिन नहीं है कि अपने केंद्रित लंदन नीलामों द्वारा किसी एक क्षेत्र में उनकी कीमतें निर्धारित या आवंटित कर दी जाएं और आय कम कर दी जाए और दूसरे क्षेत्रों में उन्हीं को बढ़ा दिया जाए। लोकसभा की सार्वजनिक लेखा समिति ने अपनी 15वीं रिपोर्ट (1977-78) में यह बताया है कि भारत में चाय उद्योग किस प्रकार बहुराष्ट्रिकों के हाथ में है जिन्होंने देश को अपने विधिक विदेशी मुद्रा की आय से न केवल वंचित ही किया है अपितु अपनी देय राशियों के संबंध में राजकोष को भी लूटा है।

भारत से विदेशी कंपनियों द्वारा विदेश को भेजी गई कुल राशि 1968-69 से 1975-76 की अवधि में 646.1 करोड़ रुपए रही। इसमें से लाभांशों के रूप में सबसे अधिक राशि 251.6 करोड़ रुपए थी। इसके बाद ब्याज की राशि 129.2 करोड़ रुपए रही। तकनीकी शुल्क 116.6 करोड़ रुपए और रायल्टी 48.1 करोड़ रुपए रही। औसत रूप से इससे प्रतिवर्ष 80 करोड़ रुपए की राशि मिली है लेकिन यह 8० करोड़ रुपए की राशि केवल प्रदर्शित प्रेषण राशियों की है। मुख्य कार्यालय के व्यय, अनुसंधान और विकास संबंधी व्यय निर्यात के कारण विदेशी फर्मों को दिए गए कमीशन के लिए भारतीय फर्म से संबद्ध विदेशी फर्म के ऊपर से लिए गए व्यय की अप्रत्याशित प्रेषण निधियां कुल मिलाकर बहुत बड़ी राशि की हो जाती हैं और उस गोपनीयता के कारण जिसमें लेखे चालाकी से रखे जाते हैं, सही राशि इन तरीकों से निकाल दी गई है और इसे शुद्धता से आकलित नहीं किया जा सकता। फिर भी भारत के वित्त मंत्रालय ने एक अध्ययन किया है और सार्वजनिक लेखा समिति की 176वीं रिपोर्ट के परिशिष्ट 2 में (जो 5वीं लोकसभा को प्रस्तुत की गई) दिखाया गया है और इससे यह स्पष्ट होता है कि विदेशी कंपनियां भारतीय लेखों द्वारा 78 प्रतिशत तक मुख्यालय के व्यय के रूप में लेती रही हैं। जब लोक-लेखा समिति ने मुख्यालय व्यय के संबंध में छानबीन की तो आई० बी० एम० इस प्रकार के अपराध करने वाली दोषी कंपनी में से एक कंपनी निकली जो स्वयं खुलकर स्वीकार करने के लिए सामने आई कि उसका 4,50,000 अमरीकी डालरों का अतिरिक्त दावा है।

एक अन्य तरीका भी काम में लाया जाता है जिससे भारतीय आय कम हो जाती है, भारतीय कर का वंचन हो जाता है और साथ ही साथ भारत की विदेशी विनिमय मुद्रा की आय में भी कमी हो जाती है। यह तरीका इन सभी विदेशी कंपनियों ने अपनाया है और इसे अंतरण मूल्य निर्धारण कहते हैं। बहुराष्ट्रिक, विकासशील देशों में कर-निर्धारण के संबंध में बहुत कम लाभ दिखाते हैं और अपनी आय को बंदरगाहों पर कर देने अथवा कम कर वाले देशों की दृष्टि से अलग-अलग कर लेते हैं। उदाहरणार्थ 1976-77 में विश्व के 25 बहुराष्ट्रिकों की आय 1,346 करोड़ रुपए हुई लेकिन भारत से होने वाली आय सिर्फ 32 लाख रुपए ही दिखाई गई।

बहुराष्ट्रिकों के संबंध में संयुक्त राष्ट्र के एक प्रलेख में यह अनुमान लगाया गया है कि विश्व के कुल व्यापार का एक-चौथाई भाग ऐसी अंतर-कंपनी कीमतों को शामिल किए हुए है जो आयातों और निर्यातों की सही कीमत को लक्षित नहीं करते। भारत में इस प्रकार का अंतरण मूल्य-निर्धारण कई विदेशी कंपनियों के मामले में बड़े पैमाने पर स्वीकार कर लिया गया है और लोक-लेखा समिति के समक्ष यह स्वीकार कर लिया गया है कि आई० बी० एम० इसी प्रकार के तरीके को काम में लाती रही है। आई० बी० एम० के मामले में इस प्रकार के अंतर-कंपनी बिल तैयार करने में 1970 में 1,40,00,000 रुपए की राशि बढ़कर 1971 में 1,60,00,000 रुपए,

1973 में 3,30,00,000 रुपए और 1974 में 4,10,00,000 हो गई ।[2]

यह तर्क दिया जाता है कि विदेशी सहयोग से हमें तकनीकी कार्य-कुशलता मिलेगी और शोध-कार्य में उन्नति होगी परन्तु वास्तव में विदेशी कंपनियों ने हमें सही ढंग की प्रौद्योगिकी नहीं दी है और संयुक्त राष्ट्र टैरिफ कमीशन के अनुसार यह कहना ठीक है कि जो कुछ भी प्रौद्योगिकी का हस्तांतरण हुआ है वह तीसरे वर्ग की प्रौद्योगिकी है और इसकी अपनी काफी सीमाएं हैं । शोध और विकास कार्य विशेष रूप से अपने देश में ही चलाए जाते हैं और जो विकासशील देश प्रौद्योगिकी को किराए पर मांगता है उसे बिना किसी प्रतिफल के भारी कीमत चुकानी होती है चाहे यह शोध-कार्य विश्वव्यापी कार्यों के लिए बहुराष्ट्रिक के स्वदेश में वस्तुतः किया गया हो अथवा प्राप्त-कर्ता देश में कार्यों के लिए उपयोग किया जाता हो ।

आज हमारे पास 6,000 से अधिक सहयोग हैं लेकिन अभी हमें देसी कच्चे माल के उपयोग से इन समझौतों द्वारा प्राप्त किसी भी तकनीक की सफलता का समाचार मिलना शेष है । वास्तव में, ये समझौते देसी शोध-कार्य का निषेध करते हैं और देश को विदेशियों की सतत निर्भरता पर आश्रित बना देते हैं । 1956 और 1968 के वर्षों में स्वीकृत विदेशी सहयोगों में से लगभग 25 प्रतिशत सहयोग सर्वोच्च 20 उद्योग संस्थाओं से संबंधित रहे और पूंजी-सामानों के आयात में उनका अनुमोदित भाग 40 प्रतिशत था; उन्होंने भी देसी प्रौद्योगिकी के विकास के लिए कोई भी उल्लेखनीय प्रयत्न नहीं किए हैं । उसके बाद अधिक तीव्रता से विदेशी सहयोग बढ़ रहे हैं और उनमें से अधिकांश उद्योगों का संबंध बड़ी-बड़ी व्यापारिक संस्थाओं से हो गया है । विदेशी पूंजी-पति बड़े-बड़े व्यापारिक घरानों को अधिक पसंद करते हैं और बड़े-बड़े व्यापारिक घराने भी विदेशियों से सहयोग करना पसंद करते हैं । लगभग प्रत्येक नवीन अथवा आधुनिक अंतर-संरचनात्मक उद्योग में जहां कहीं भी उन्होंने भाग लिया है वहां बड़ी-बड़ी व्यापारिक संस्थाओं ने विदेशी पूंजी और प्रौद्योगिकी की सहायता से अपना काम आगे बढ़ाया है । उनके निवेश प्रस्तावों के लगभग 40 प्रतिशत प्रस्ताव स्वीकृत कर लिए गए हैं जिनमें विदेशी सहयोग निहित है और हज़ारी के अनुसार उनके निवेश के आयात का भाग लगभग 60 प्रतिशत था ।

भारतीय बड़े व्यापार के भाग के रूप में बड़ी विदेशी कंपनियों का महत्त्व इस तथ्य से महसूस किया जा सकता है कि भारत की सबसे बड़ी कंपनियों में लगभग 20 से 25 तक विदेशी कंपनियां हैं । उनकी कुल परिसंपत्तियां सर्वोच्च 20 व्यापारिक संस्थाओं की कुल परिसंपत्तियों के 15 से 20 प्रतिशत भाग के बराबर हैं । इनके अलावा 25 बड़ी व्यापारिक संस्थाओं में से दो बड़ी संस्थाएं—आई० सी० आई० और पैटी विदेशों से काफी घनिष्ठ संबंध रखती हैं । सबसे बड़ी 20 विदेशी कंपनियों की परिसंपत्तियों में कुल मिलाकर 1966-76 की अवधि में 138 प्रतिशत की वृद्धि हो गई है ।

विदेशी पूंजी और देसी व्यापार के बीच दुरभि-संधि को रिजर्व बैंक ने

2. परिशिष्ट 7—'लोक-लेखा समिति, 1975-76', 221वीं रिपोर्ट ।

1964-70 की अवधि के लिए भारत के उद्योग के वित्तीय और तकनीकी सहयोग के अध्ययन से स्पष्ट किया है। इस अध्ययन में उन 197 अनुषंगी उद्योगों और 433 कंपनियों को शामिल किया गया है जिनमें अल्प विदेशी सहभागिता है। इस अध्ययन में यह बात कही गयी है कि इन विदेशी कंपनियों से विदेशी मुद्रा की आय होती है किन्तु यह बात सफेद झूठ ही नहीं है बल्कि देश के साथ धोखा भी है। वर्ष 1964-70 की अवधि के दौरान इन विदेशी स्वामित्वाधीन कंपनियों ने निजी कंपनियों के सहयोग से 1,600 करोड़ रुपए के मूल्य की वस्तुओं का आयात किया जबकि इसकी तुलना में कुल 729 करोड़ रुपए की वस्तुओं का निर्यात किया गया है। इस प्रकार देश के लिए शुद्ध रूप से 871 करोड़ रुपए की हानि हुई है। इसके अलावा यह सर्वविदित है कि ये विदेशी कंपनियां अपने आयातों का अधिक मूल्य रखती हैं और अपने निर्यातों का कम मूल्य रखती हैं इसलिए छः वर्षों की अवधि में निवल हानि 2,000 करोड़ रुपए से लेकर 3,000 करोड़ रुपए की राशि से कम नहीं होगी।

'ब्लिट्ज़', बम्बई ने रिज़र्व बैंक के अध्ययन की समीक्षा करते हुए लिखा है कि "1964-70 वर्षों की अवधि में 197 अनुषंगी उद्योगों ने जो पूंजी लगाई, वह पूंजी 633 करोड़ रुपए से बढ़कर 1,045 करोड़ रुपए तक हो गई और इस प्रकार औसतन 11 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई जबकि उत्पादन में 18 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसी अवधि में विदेशी कंपनियों ने धोखाधड़ी से जो लाभ उठाया उसमें देसी पूंजी को भी मिला लिया गया था और यह लाभ पहले की अपेक्षा कहीं अधिक था। उनकी पूंजी 816 करोड़ रुपए से बढ़कर 1,765 करोड़ रुपए तक हो गई और इस प्रकार 25 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई और विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उत्पादन में 32 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि हुई। इसकी तुलना में देश भर में कुल मिलाकर औद्योगिक उत्पादन की वार्षिक संवृद्धि केवल 4.5 प्रतिशत रही।

"इसके अलावा, इन अनुषंगी उद्योगों का कुल निवेश 162 करोड़ रुपए था जबकि छः वर्षों में उनकी प्रेषित राशियां 144 करोड़ रुपए थीं। छोटी कंपनियों के संबंध में निवेश 96 करोड़ रुपए का रहा जबकि सीधे ही प्रेषित राशियां 50 करोड़ रुपए की रहीं और वे निरंतर इस धोखाधड़ी के लाभ को उठाती रहीं।"

इस स्थिति के विश्लेषण से यह विदित होता है कि भारतीय उद्योगों के सहयोग को लाभ होने की जगह विदेशी कंपनियों को लाभ पहुंचा है जैसा कि इस प्रकार स्पष्ट है :

(i) रायल्टी और तकनीकी शुल्क के माध्यम से अपेक्षाकृत अधिक लाभ अपेक्षाकृत कम आय-कर की दर के हिसाब से उठाया गया है;

(ii) मशीनों और संयंत्रों के आयात के लिए ऋणों तथा उधार ली गई राशियों पर ब्याज की नियत दर को केंद्रीय सरकार के अनुमोदन के अधीन भारतीय आयकर अधिनियम के कतिपय प्रतिबंधों से कर-मुक्त किए जाने का आश्वासन दिया गया है।

(iii) स्थानीय लाइसेंसधारी द्वारा लाइसेंस-प्राप्त प्रक्रमों में किए गए सुधारों को अधिमान्य दरें दी जाती हैं;

(iv) लाइसेंसधारी को विदेशी कंपनी या उसकी सहयोगी संस्था से उच्च लागत पर कच्चा माल, मशीनरी, संयंत्र और फालतू पुर्जे खरीदने के लिए बाध्य किया जा सकता है;

(v) निर्यातों को कतिपय विनिर्दिष्ट क्षेत्रों और कंपनियों तक सीमित किया जा सकता है ताकि विश्वव्यापी वही आधिपत्य रखा जा सके जो विदेशी कंपनी रखती है।

वास्तव में जब तक भारतीय सहयोगी सतर्क नहीं होता और विदेशी सहयोगी की शर्तों को सावधानी से स्वीकार नहीं करता तब तक "पेटेंट स्वामी और लाइसेंस-धारी के बीच का संबंध मालिक और जागीरदार जैसा होगा" जैसाकि वाल्टर हैमिल-टन ने अपनी पुस्तक 'कार्टेल्स पेटेंट्स एण्ड पॉलीटिक्स' में लिखा है। इस प्रकार विदेशी सहयोग मकड़ी के जाले की तरह हैं जिनमें भारतीय उद्योग को चूसा जा रहा है और इसमें व्यक्ति को बहुत ही चौकस रहना चाहिए ताकि देशी उद्यम और हुनर विदेशी सहयोग की बलिवेदी पर बलिदान न हो पायें।

यद्यपि भारत को कतिपय जटिल उद्यमों के क्षेत्रों में विदेशी पूंजी की आवश्य-कता है फिर भी यह सही है कि भारत को उन क्षेत्रों में विदेशी पूंजी की आवश्यकता नहीं है जहां हम यह जानते हैं कि हम अपने पांवों पर किस प्रकार खड़े रह सकते हैं। महात्मा गांधी ने ब्रिटिश लोगों को यह बताया था कि छोटे संयंत्र बड़े-बड़े संयंत्रों के अधीन नहीं पनप सकते और उन्होंने 1932 में बहुत पहले ही गोलमेज कांफेरेंस को यह चेता-वनी दी थी कि स्वतंत्र भारत इन सभी बड़े संयंत्रों को प्रतिकर चुकाए बिना समाप्त कर देगा। फिर भी हमने महात्मा गांधी ही भविष्यवाणी पर अमल नहीं किया है और हम भारत की अर्थव्यवस्था पर आरोपित ब्रिटिश उद्योग के एकाधिकार की पकड़ को तोड़ने में हिचकिचाए हैं।

भारत सरकार ने न्यूनतम 40 प्रतिशत तक ईक्विटी के स्वामित्व को प्रति-बंधित करने के लिए नई नीति अपनाई है लेकिन इससे भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। 40 प्रतिशत के अपने ब्लाक शेयर में विदेशी ईक्विटी, कम्पनी के प्रबंध और नियंत्रण में अपनी प्रभुता जमा लेगी और यही निर्णायक होगी क्योंकि एकल ब्लाक द्वारा नियंत्रित और अपनाए गए 40 प्रतिशत की तुलना में उन विविध हितों के अन्तर्गत, जो कभी भी नहीं मिल सकते, 60 प्रतिशत विसर्जित की गई ईक्विटी का स्वामित्व प्रभावकारी नहीं होगा। वास्तव में अमरीकी वाणिज्य विभाग किसी भी विदेशी कंपनी में 10 प्रतिशत ईक्विटी को, नियंत्रण बनाए रखने के लिए, पर्याप्त समझता है ताकि यह समझा जाए कि सहभागी कंपनी के साथ अमरीकी कंपनी संबद्ध है। इसलिए स्वामित्व का परिवर्तन विदेशी नियंत्रण को हल्का नहीं कर सकता। विदेशी कंपनियों ने इस बात को महसूस कर लिया है और वे तत्परता से इस बात को स्वीकार कर लेने के लिए उद्यत हैं। इसके अलावा वे अपनी इंजीनियरी सेवाओं,

आरेखन और डिजाइन को अलग-अलग बेचने की तकनीक में भी परिवर्तन कर रही हैं और ऐसी दरों पर इकट्ठी राशि की अलग-अलग फ़ीस मांग रही हैं जो बहुत अधिक हैं। इंगलैंड की पिलकिंग्टन संस्था ने सोमानी पिलकिंग्टन संस्था के साथ पंचवर्षीय लिखित समझौता किया है जिसके अनुसार ग्लेज्ड टायल तैयार करने के लिए आवश्यक तकनीकी जानकारी, संयंत्र अभिविन्यास, मशीनों का चयन, गुप्त प्रक्रियाएं और सूत्र उपलब्ध कराए जाएंगे। इस समझौते के अनुसार विदेशी कंपनी पिलकिंग्टन को 30,00,000 रुपए की इकट्ठी राशि अदा की गई और बिक्री पर 1.5 प्रतिशत की राशि भुगतान की गई। इसके अलावा वे अतिरिक्त जानकारी के प्रक्रम के लिए 80 रुपए से लेकर 90 लाख रुपए प्राप्त कर रहे हैं।

अमरीका की चेम्टैक्स फाइबर्स कंपनी श्री सिंथैटिक्स की इसी प्रकार की सहायता करने पर राज़ी हुई है और इस समझौते के अनुसार 1.8 करोड़ रुपए की इकट्ठी राशि के भुगतान के साथ ही साथ 20 प्रतिशत ईक्विटी शेयर के करार के अनुसार नायलौन और पोलिएस्टर फिलामेंट धागा-संयंत्र की स्थापना की गई है।

यह भी देखा गया है कि एफ० ई० आर० ए० के मार्गदर्शन को प्रयोग में लाते हुए भी विदेशी ईक्विटी को वास्तव में कम नहीं किया गया है। विदेशी कंपनियां अपनी ईक्विटी को पूर्णतया सुरक्षित रखती हैं लेकिन उनकी प्रतिशतता कम हो जाती है क्योंकि वे अपनी पूंजी के आधार को बढ़ा लेती हैं जिसके लिए भारत सरकार अति उदार होकर अपना अनुमोदन दे देती है। इस प्रक्रिया में विदेशी कंपनियों को जो लाभ प्राप्त होते हैं वे इस प्रकार हैं :

(i) वर्तमान शेयर ज्यों का त्यों बना रहता है अथवा पूर्ण रूप से वस्तुतः बढ़ा लिया जाता है।

(ii) शेयरों को ऐसे प्रीमियम पर जारी किया जाता है कि वर्तमान शेयर अपने मूल्य में बढ़ जाते हैं, और

(iii) विहित प्रतिशतता की अपेक्षा कुल पूंजी-प्रसार की प्रतिशतता कम हो तो वास्तव में विदेशी कंपनियों को अधिक आवंटन किए जाते हैं ताकि उनके लाभांश की आय में वृद्धि हो।

3 अप्रैल, 1978 को 'फाइनैंशियल एक्सप्रेस' में एक विश्लेषण किया गया जिससे यह विदित हुआ है कि प्रक्रम को हल्का करने के बाद कई विदेशी कंपनियों की प्रदत्त पूंजी में 9.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई, घोषित लाभांश 58.9 प्रतिशत तक बढ़ गया और 30 विदेशी बहुराष्ट्रिकों का कुल लाभ 127.36 करोड़ से बढ़कर 153.33 करोड़ रुपए तक हो गया।

यह भ्रामक है कि भारत में विदेशी कंपनियों के कुल निवेश की तुलना सार्वजनिक या निजी क्षेत्र में कुल निवेश से की जाए। किसी भी विशेष क्षेत्रक में अपनाए गए गलत तरीके या प्रयोग में लाया गया ज़ोरदार प्रभाव है जो ऐसी अर्थव्यवस्था में काफी महत्त्व रखते हैं जिससे विदेशी कंपनियां हमारे देश में आर्थिक व्यवस्था को

कसकर पकड़ने में सक्षम हो गई हैं। फिर भी भारत के लोग यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि जो कुछ भी ऊपर कहा गया है, विदेशी कंपनियों को 1975 तक इस बात की अनुमति दी गई है कि वे 25 प्रतिशत तक अपनी क्षमता बढ़ा लें।

इसलिए जब नीति स्वीकार गई थी उस समय जिन आशंकाओं की ओर संकेत किया गया था वे सही निकली हैं। विदेशी सहयोग केवल भारतीय वित्तीय संसाधनों के लूटने का दूसरा नाम ही है। न तो आवश्यक मात्रा की पूंजी होती है न आवश्यक स्तर का तकनीकी ज्ञान ही होता है, इसलिए हम निरंतर ऐसे चक्र में फंस गए हैं कि हमें अन्य राष्ट्रों की सहायता पर भरोसा करना होता है। अन्य अधिकांश गरीब राष्ट्रों के समान भारत में आर्थिक विकास अब विदेशी प्रौद्योगिकी पर दुःखद रूप से निर्भर हो गया है। जब आप किसी नेत्रहीन व्यक्ति को भोजन पर आमंत्रित करते हैं तो आपको वास्तव में दो व्यक्तियों के लिए भोजन की व्यवस्था करनी पड़ती है क्योंकि इन दोनों व्यक्तियों को कभी भी अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में इन दोनों व्यक्तियों को जान-बूझकर अलग-अलग व्यक्ति के रूप में आमंत्रित किया गया है। पूंजी के अलावा विदेशी प्रौद्योगिकी की उपलब्धता ही सहयोग की नीति के मुख्य कारण थे। ऐसा कोई सार्वजनिक भाषण नहीं है जिसमें नेहरू ने 'उच्च' प्रौद्योगिकी के लिए भारत की आवश्यकता का जिक्र न किया हो। उन्होंने इस बात को स्वीकार करने में एतराज किया है कि 'उच्च' का संबंध भूमि की प्रति यूनिट में उत्पादन अथवा पूंजी निवेश बढ़ाना ही नहीं है अपितु काम पर लगाए गए प्रति व्यक्ति अथवा प्रति उद्यमकर्ता को भी देखना है जिससे आय में भारी असमानताएं हो जाती हैं, बेरोजगारी बढ़ती है और आर्थिक शक्ति केंद्रित होती रहती है। ये ऐसे दोष हैं जिन्हें हमारे बुजुर्ग दूर करना चाहते थे और इसी प्रकार की बात संविधान में कही गई है। इसके विपरीत चीन और जापान के उदाहरण भी हैं। चीन ने पिछले बीस वर्षों में अभेद्य कठिनाइयों को दूर करने का संघर्ष किया है। यह स्थिति तभी से है जब रूस ने अपने तकनीशियनों को चीन से वापिस बुला लिया और इस प्रकार चीन में विदेशी मॉडल और विदेशी सहायता बन्द हो गई तथा चीन के लोग अपनी समस्याओं को हल करने के लिए देशी तरीके अपनाने लगे। जहां तक जापान का संबंध है — जापान केवल उसी स्थिति में विदेशी प्रौद्योगिकी का आयात करता है जब अत्यंत आवश्यकता होती है लेकिन वह विदेशी ईक्विटी पूंजी अथवा प्रबंध स्वीकार नहीं करता। एक जापानी अर्थशास्त्री के मतानुसार इस "नीति से जापान में स्थानीय उद्यमशीलता के विकास को प्रोसाहित करने में भारी सहायता मिलती है और जापान की अर्थव्यवस्था में 'विदेशी एनक्लेव' के निर्माण नहीं हुए हैं जैसा कि प्रायः कम विकसित देशों में पाया जाता है।"

यूगोस्लाविया जैसे देशों में, जिनमें ईक्विटी जोतों की अनुमति दी जाती है, बहुराष्ट्रिक निगम को 35 प्रतिशत सम्पत्ति कर देने के बाद लाभ लेने की अनुमति दी जाती है। यह लाभ तभी दिया जाता है जब मजदूरी, अतिरिक्त सामाजिक सुरक्षा कर, वेतन उपस्थित पंजीकर और साम्प्रदायिक कर अदा कर दिया गया हो। इसके अलावा

यूगोस्लाविया के विशेषज्ञ ही हैं जो प्रबंधों के प्रभारी होते हैं और संयुक्त ईक्विटी सम्पत्तियां केवल नियत वर्षों (10 तक) के लिए होती हैं और उसके बाद विदेशी हित समाप्त कर दिया जाता है।

हमारी नीति के वित्तीय परिणामों के अलावा इस मामले का एक अन्य बहुत अनर्थकारी पहलू है। बहुराष्ट्रिक निगमों ने केवल संसाधनों के आकार और प्रभुत्व के द्वारा कतिपय देशों में, जहां उनके कारोबार चलते हैं, उनकी सरकारों की अपेक्षा कहीं अधिक शक्ति अर्जित कर ली है। हमारे अपने देश में भी कतिपय विदेशी फर्मों द्वारा राजनीतिक मामलों में सूक्ष्म हस्तक्षेप के बारे में समय-समय पर आरोप लगाए गए हैं। अमरीका के दो बड़े बहुराष्ट्रिकों और ब्रिटिश के एक बहुराष्ट्रिक ने न्यायालयों के समक्ष यह स्पष्ट किया है कि उन्होंने विभिन्न प्रयोजनों के लिए जिनमें भारत के राजनीतिक दलों, मजदूर नेताओं और सरकारी कर्मचारियों का भुगतान भी शामिल है, अलग निधियां रखी हैं। स्वर्गीय फखरुद्दीन अली अहमद ने 12 अप्रैल, 1968 को लोकसभा में एक वक्तव्य दिया। इस वक्तव्य से इस बात का आभास मिलता है कि विदेशी कम्पनियां हमारे राजनीतिक विकास को किस प्रकार प्रभावित करती हैं। इस वक्तव्य में जो विवरण दिए गए हैं उनसे विभिन्न राजनीतिक दलों को इस प्रकार के एक निगम ने क्या-क्या अंशदान दिए हैं, वह इस प्रकार हैं :

स्वतंत्र पार्टी	14,64,155 रुपए
कांग्रेस	10,06,000 रुपए
जनसंघ	5,12,200 रुपए
जनकांग्रेस	2,25,000 रुपए
शेख अब्दुल्ला की नेशनल कान्फेरेंस	2,08,000 रुपए

40 अमरीकी कम्पनियों ने, जिनमें से अधिकांश सम्पर्क कार्यालयों के रूप में काम करती हैं और शायद भारतीय कर्मचारियों के साथ अपना मेलजोल बढ़ाती हैं, राजनीतिक दलों को अंशदान दिए, सरकार और संसद में लाबियों को बनाए रखने के लिए धन व्यय किया और अन्य प्रलोभन दिए हैं, यथा—मदिरा की आपूर्ति, विलासपूर्ण होटलों में मनोरंजन और भारत से विदेश जाने वाले कर्मचारियों के आतिथ्य की व्यवस्था की है। यह एक ऐसा आरोप है जो मई, 1975 की अमरीकी पत्रिका में प्रकाशित किया गया है और 14 मई, 1975 को एक उत्तरदायी सदस्य ने राज्यसभा में इसकी ओर ध्यान आकर्षित किया है।

सातवें दशक में औद्योगिक लाइसेंसिंग समिति ने यह शिकायत की : "हमें यह तथ्य जानकर आश्चर्य हुआ है कि सभी सहयोग के समझौतों की शर्तों के बारे में जो मूलभूत विवरण दिया गया है उसमें भी इस बात का उल्लेख नहीं किया गया है कि वे

किस प्रकार कार्यान्वित किए गए हैं और ये शर्तें सरकार के पास भी उपलब्ध नहीं हैं।" समिति ने ऐसे कदम उठाए जाने के लिए कहा है जिससे यह 'सूचना की कमी' पूरी कर दी जाए।

अभी तक इस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है : शायद भविष्य में भी इस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं किया जाएगा क्योंकि शासक प्रबुद्ध जन इस प्रकार की खोजबीन में गहराई से फंसे हुए हैं क्योंकि उन विदेशी फर्मों में लगे कर्मचारियों को जान-बूझकर अधिक भुगतान किए जाते हैं और उन्हीं कर्मचारियों का शासक प्रबुद्ध वर्ग प्रतिनिधित्व करता है।

लोकसभा में पूछे गए एक प्रश्न के उत्तर में भूतपूर्व केन्द्रीय वित्तमंत्री श्री चह्वाण ने उदासीन होकर कहा कि मार्च 1971 के अंत तक भारत में कुल विदेशी निजी निवेश का अस्थायी रूप से अनुमान 1,320 करोड़ रुपए का लगाया गया है लेकिन उनके पास कोई भी प्रामाणिक रिकार्ड नहीं है।

1974 में श्री ज्योतिर्मय बसु, संसद सदस्य ने 'द इलस्ट्रेटिड वीकली आफ इंडिया', बंबई की ओर ध्यान आर्कषित करते हुए लोकसभा में दिए गए अपने भाषण में यह कहा :

> "चाहे इसे आप नवउपनिवेशवाद कहें अथवा इसके लिए अन्य किसी शब्द का प्रयोग करें : तथ्य यह है कि विदेशी फर्मों ने हमारे देश का बुरी तरह से शोषण किया है। इस शोषण के संबंध में अनुमान लगाने की तो बात अलग है, अभी तक में इसे रोकने के लिए कोई प्रभावी कदम नहीं उठाए गए हैं क्योंकि बहुत-से राजनीतिज्ञ और अधिकारी वर्ग के लोग कंपनी के अधिकारियों के साथ उनकी लूट-पाट में हिस्सा बंटाते हैं। इससे भी अधिक इसने नैतिकता का पतन किया है और प्रबुद्ध समाज को पतनोन्मुख कोकाकोला एवं च्युइंगम संस्कृति का उत्साही मार्गदर्शक बना दिया है।"

आर० के० हजारी और एच०जी०लाखन ने महाराष्ट्र की 88 औषध-निर्माण फर्मों का सर्वेक्षण किया है। महाराष्ट्र में आज भी इस उद्योग का अधिकांश भाग स्थित है। उन्होंने अपने सर्वेक्षण में यह पाया कि "1964 में पूर्णतया विदेशी स्वामित्व की कंपनियों में से प्रत्येक कम्पनी इतना नकद लाभ (मूल्यापकर्ष से पूर्व कर अदा करने के बाद लाभ) पैदा कर रही थी जिससे उन कम्पनियों के निवेश दो वर्षों में ही उन्हें मिल सकते थे। अधिकांश विदेशी कम्पनियां अपने निवेशों को फिर से वापिस लेने में चार वर्षों से कुछ अधिक समय लेती थीं।"

माइकेल किडरौन ने 'फॉरेन इन्वेस्टमैंट इन इंडिया—ए स्टडी' नामक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक के अनुसार ऊपर दिया गया कथन व्यापक स्तर पर पूर्णतया सही है। इस तथ्य की पुष्टि इस प्रकार भी की जा सकती है : "1948 से 1961 तक के चौदह वर्षों की अवधि में आंकड़े मिल जाते हैं। इस अवधि में विदेशी निवेश दूने से भी अधिक बढ़ गए हैं और विदेशी निवेशक कुल मिलाकर लगभग उसकी तीन गुनी

सामान्य मुद्रा ले चुके हैं जितनी मुद्रा का उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से अपने उद्यमों में प्रारंभिक रूप से निदेश किया था।"

विशेष फर्मों के संबंध में कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं :

कोकाकोला, एक्सपोर्ट कारपोरेशन : इसमें जो कुछ भारतीय चीज थी वह केवल जल ही था। अमरीका से मिश्रण का व्यापारिक रहस्य प्राप्त हुआ था। प्रारंभ में 4 बोतल भरने के संयंत्र थे, बाद में ये 22 संयंत्र हो गए और इनमें 6,000 लोग प्रत्यक्ष रूप से, एक लाख लोग अप्रत्यक्ष रूप से काम पर लगाए गए। 1970 में 6,60,000 रुपए की शेयर पूंजी पर कर चुकाने के बाद 60,57,000 रुपए का निवल लाभ कमाया गया और लाभांशों के रूप में 1, 03, 33, 000 रुपए का भुगतान किया गया जो शेयर पूंजी का 1,566 प्रतिशत है। 1972-73 में 16 लाख रुपए की मुक्त विदेशी विनिमय मुद्रा जारी की गई।

कोलगेट पामोलिव : यह एक अमरीकी बहुराष्ट्रिक है जिसकी 12 बिलियन डालर से अधिक वार्षिक बिक्री होती है। भारत में 1.5 लाख रुपए के निवेश पर 1968 69 में 41.76 लाख रुपए, 1969-70 में 82.39 लाख रुपए और 1970-71 में 76.16 लाख रुपए मालिकों को प्रेषित किए गए और लाभांशों के रूप में 72,91,000 रुपए की राशि वितरित की गई जिससे शेयर पूंजी 4,860 प्रतिशत हो गई। इस प्रकार इनसे 50 करोड़ रुपए की राशि बाहर चली गई है।

मैसर्स फिजर इंडिया लिमिटेड : एक औषधि बनाने वाली फर्म है जिसने 1969-71 में अपनी 420.03 लाख रुपए को विदेशी ईक्विटी पूंजी की तुलना में विदेशी सम्पत्तियों पर लाभांश के रूप में 482.87 रुपए की प्रतिपूर्ति की है। लोकसभा में पूछे गए एक प्रश्न के उत्तर में पैट्रोलियम और रसायन मंत्री श्री एच० आर० गोखले ने 15 नवम्बर, 1971 को दृढ़तापूर्वक यह कहा कि इस फर्म ने 1950 में केवल 5 लाख रुपए के प्रारंभिक शेयर पूंजी से अपना व्यापार प्रारंभ किया था।

एबॉट लैबोरेटरीज ने एक लाख रुपए की राशि का निवेश किया था और अब यह फर्म प्रति वर्ष लगभग 23 लाख रुपए की राशि अमरीका भेजती है।

15 अगस्त 1974 के स्वतंत्रता दिवस के विशेषांक 'ब्लिट्ज़' में एक लेख में यह कहा गया है : "बिस्कुट कम्पनी ने 95,83,000 रुपए का लाभ कमाया है जो 1970 में शेयर-पूंजी का 23 प्रतिशत है। अभी हाल ही में उसे अपने कार्य-विस्तार की अनुमति दी गई है जिससे कमजोर देशी उद्यमों के समाप्त करने में शीघ्रता की गई है।